

॥ श्रीः ॥
विद्वद्वरधनिकविनिर्मितेन
अवलोकाल्पतिलकेन समलङ्कृतम्
विद्वद्वरनाट्यविद्याधुरन्धरधनञ्जयविरचितम्

दशरूपकम्

(नाट्यशास्त्रम्)

पञ्चनदीय (पञ्चाग्नी) पण्डितमुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीतया
प्रभाख्यया व्याख्यया संवलितम्

टीका (प्रभा) कर्त्रेण च सशोधितम्

तद्वतन्
मुम्बईनगरे

‘गुजराती’ मुद्रणालयाधिपतिना मणिलालदत्तगारापदेशाई-
समाख्येन स्वकीयमुद्रणालये मुद्रयित्वा
प्रकाशितम्

मसबत् १९७०

३

मिस्ससक १९१४.

मूल्यमेक रुप्यकम् ।

॥ श्रीः ॥

भूमिका

अये गीर्वाणवाग्दण्डलिखालवालकल्पा अनल्पादर्शित्यादिकमनीय-
गुणगणार्णवा विद्याविन्दो विभूषितवमुन्वगः ।

एतत्सावलो रुदशरूपकपदार्थावगतौ कचिन् कचिन् हेतुो भवति
छात्राणामित्यालोच्य महामहोपाध्याय सी आई ई भिद्यानिधि श्री ७
श्रीयुतगङ्गाधरशास्त्रिणा छात्रेण मया यथामति तत्तत्पदार्थमात्रस्फुटी-
करणार्थं दिप्पणीसमकल्पेय प्रभाष्या व्याख्या साऽलोकस्यैव दशरूप-
कस्य विरचितास्तीति मन्ये छात्राणां किंचिदुपयोगः स्यादेव ।

मूलपाठोऽपि यथामति सशोभितः, अद्यापि प्राक्तनलिखितातिशुद्ध-
पुस्तकानुपलब्ध्या मूले कचिन् कचिन् सशयोपि न निरर्तते । विषयश्चायं
प्राधान्येन भरतसूत्रेऽस्ति, संगीतरत्नाकरादावपि किंचिदुपलभ्यते । उदा-
हृतपद्यवाङ्मयार्थानुरोधशून्यानां चानाधिकाराभावाद्विस्तरभात्या चोदा-
हृतपद्यानि न मया व्याख्यातानि अद्यापि चतुर्थप्रकाशे “ हस्तैरन्त-
र्निहितवचनैः ” “ व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना ” इतिपद्यद्वयं केवलसंगीत-
शास्त्रसम्बद्धत्वात् छात्राणां हेतुशर म्यादिति तदीयपदार्थां सप्रमाण
प्रतिपादिता ।

संगीतप्रन्थपदार्थावगतौ च ममोक्तर्गागुस्चरणरूपैश्च कारणम् ।
संगीतत्रियाद्या च श्रीयुतनायकाऽमृतसेनमहाशयानां चरणरूपा कारणम्,
श्रीयुतामृतसेनमहाशयश्च जगत्प्रसिद्धश्रीवानसेनको १८७० विक्रम-
मवसरे प्रादुर्भूतो न केवलं स्वसमानत्रयस्तेष्वेव किं तु दृष्टेऽपि समा-
नभूमिं संप्राप्तो नायकपदवीमलम्ब्यकार सितारवाद्यप्रावीण्ये चाद्वितीय
ग्वार्सीन् स च १९५० विक्रमसंवसरे पौषरूपाष्टम्यां स्वर्गं गतः ।

चलवीणेत्यपरपर्यायस्य सितारवाद्यस्य वादनपरिपाटी च पूर्वं सूत्र
तुल्यैव नातिपरिष्कृता चासीत्, अत एवास्य वाद्यस्य महत्त्वमपि
नासीन्, अमृतसेननायकानां पितृपात्रैः सुगृहीतनामधेयैः रहीमसेन
नायकैरेव सा परिपाटी प्रथमं परिष्कृतेति सर्गीतकोविदेषु प्रसिद्धमेव,
एतच्च च तैस्तादृशपरिष्कारप्रतिपादनप्रारम्भे सर्गीतकोविदेभ्यः 'सुहृद्गुरो
लोष्टमिन्म् (सितार) मया गृहीतमेतन्मन्ये दिव्यमणे (ध्रुवपदस्य)
सदृशं सपाद्य प्रदर्शयिष्यामि' इति तथैव च कृतम्, सूत्रसदृशसितार-
वादनविद्यायां रहीमसेननायकाभाष्यकारकल्पा अमृतसेननायकाश्च
वार्तिनसारकल्पा जाता इति नात्युक्तिपरिकल्पितं लपितम् । उक्तं
नायकाभ्यामेकदा स्वसितारप्रणयार्थं ससदि सपौऽप्याहूतश्चिरं च तस्मै
भावितं सितारवाद्यम् । एतेषां श्रीतानसेनमहोदयमारभ्य श्रीसुखसेन
नायकनामधेयरहीमसेननायकजनकपर्यन्तं ध्रुवपदगानविद्यैव वंशपर-
म्परामलध्वजारं रहीमसेननायकमारभ्य सितारवादनविद्या प्रचलिता
संप्रति चैषा पौत्रो निहालसेननामधेयो वर्तते अद्वितीयकुशलध्वज-
मितारविद्यायाम् । अमृतसेनमहाशयश्च रहीमसेननायकानां सौभाग्य-
वान् पुत्रं समुत्पन्नं यच्चतुर्दशममेवाम्भ्यः कीर्तिशेषावस्थापर्यन्तम्
७०० सप्तशतानि मुद्राणां मासिरूपेण प्रमेण शब्दरत्नरत्नजय-
पुरनगरेभ्योऽतिसमानेन समुपलभ्यमानम् । अन्यत्र चैषा गुरुररत्रीगङ्गाधर-
शास्त्रिणा च जीवनवृत्तात् व्युत्पत्तिरिव्यामि । तदनन्तरं न सप्त-
तादृशं सर्गीतचमत्कारो नैसर्गिकविनयादिपरिष्कारश्च कचिदपि न-
श्येति महत्प्रमित्यन्महिमेनाप्राप्तावृत्तेनेति विगमम् ।

“ न चात्रात्रिंशत्कर्तव्यं शेषदृष्टिर्गमनम् ”

इति चिक्षापयति
धीमनीयं पञ्चनदीयं
मृदुर्दशनाचार्यशास्त्री
काशी.

| विषया | पृष्ठम् | विषया | पृष्ठम् |
|------------------------|---------|-----------------------------|---------|
| पर्युपामनलक्षणम् . . | २३ | विरोधनलक्षणम् . . . | ३७ |
| पुष्पलक्षणम् . . . | २३ | प्रसेचनालक्षणम् . . . | ३८ |
| उपन्यामलक्षणम् . . . | २३ | विचलनलक्षणम् . . . | ३९ |
| सञ्चललक्षणम् . . . | २४ | आदानलक्षणम् . . . | ३९ |
| वर्णसद्वारलक्षणम् | २४ | निर्वहणसधिलक्षणम् . . . | ४० |
| गर्भसधिलक्षणम् . | २५ | निर्वहणसध्वङ्गनामानि . . . | ४० |
| गर्भसध्वङ्गनामानि . | २५ | सधिलक्षणम् . . . | ४१ |
| अमृताहरणलक्षणम् | २६ | विमोघलक्षणम् . . . | ४१ |
| भारालक्षणम् . | २६ | प्रधनलक्षणम् . . . | ४२ |
| रूपलक्षणम् . . | २६ | निर्णयलक्षणम् . . . | ४२ |
| उदाहरणलक्षणम् | २७ | परिभाषणलक्षणम् . | ४२ |
| क्षमलक्षणम् . . . | २७ | प्रमादलक्षणम् . . | ४३ |
| समलक्षणम् | २८ | आनन्दलक्षणम् . . . | ४३ |
| अनुमितिलक्षणम् . . | २८ | समपलक्षणम् . . . | ४३ |
| अधिरालक्षणम् . | २९ | इतिलक्षणम् . | ४४ |
| नोदकलक्षणम् | २९ | भाषणलक्षणम् | ४४ |
| लोकाङ्गलक्षणम् . | २९ | परिभाषणलक्षणम् . . . | ४५ |
| उद्देशलक्षणम् . . . | ३० | उपगमलक्षणम् . | ४५ |
| संक्षमलक्षणम् . . . | ३१ | वाचकलक्षणम् . . | ४५ |
| अपेक्षलक्षणम् . | ३१ | प्रशंसिलक्षणम् . . | ४५ |
| अस्मर्गसधिलक्षणम् . | ३२ | अङ्गप्रयोजनभेदस्थानम् . . . | ४६ |
| अस्मर्गसध्वङ्गनामानि . | ३२ | अङ्गानां, पदप्रयोजननामानि | ४६ |
| अस्मर्गदलक्षणम् . | ३३ | पुनरुक्तिप्रमाणावयवम् . . . | ४६ |
| संक्षेपलक्षणम् . . . | ३३ | सूचकलक्षणम् . | ४६ |
| विशेषलक्षणम् . . | ३४ | हृदयस्थलक्षणम् . | ४६ |
| द्रव्यलक्षणम् | ३४ | गूढप्रतिपक्षद्वयप्रकाशयनम् | ४७ |
| अतिशयलक्षणम् . | ३४ | विशेषलक्षणम् . . | ४७ |
| तुल्यलक्षणम् | ३४ | विशेषलक्षणम् . . | ४७ |
| प्रसङ्गलक्षणम् | ३६ | प्रतिपक्षलक्षणम् . . | ४७ |
| उपलक्षणम् . . | ३६ | सूचकलक्षणम् . | ४७ |
| वस्तुस्थलक्षणम् . | ३७ | अङ्गस्थलक्षणम् . | ४७ |

| विषय | पृष्ठ | विषय | पृष्ठ |
|----------------------------|-------|--|-------|
| अङ्गायतारलक्षणम् | ४८ | वितूपक | ६२ |
| पुनर्वस्तुत्रैविध्यस्थानम् | ४९ | प्रतिनायक | ६३ |
| सयश्चायलक्षणम् | ४९ | सात्विजा नायकगुणा | ६३ |
| स्वगतलक्षणम् | ४९ | शोभालक्षणम् | ६३ |
| नियतभाष्यभेदस्थानम् | ४९ | विलास | ६४ |
| नानान्तरालक्षणम् | ५० | माधुर्यम् | ६४ |
| अपवारितलक्षणम् | ५० | गाम्भीर्यम् | ६४ |
| आनाशभाषितलक्षणम् | ५० | स्थैर्यम् | ६४ |
| द्वितीय प्रकाश । | | तेज | ६५ |
| नायकलक्षणम् | ५२ | ललितम् | ६५ |
| विनीत | ५२ | औदार्यम् | ६५ |
| मधुर | ५२ | नायिकाभेदा | ६६ |
| त्यागी | ५२ | स्वीयाभेदा | ६६ |
| दक्ष | ५२ | मुग्धा तद्भेदाश्च | ६७ |
| प्रियवद | ५२ | मध्या तद्भेदाश्च | ६८ |
| रत्नलङ्कार | ५३ | धीरामध्या | ६८ |
| वाग्मी | ५३ | धीराधीरामध्या | ६८ |
| रुढवश | ५३ | अधीरामध्या | ६८ |
| स्थिर | ५३ | प्रगल्भा तद्भेदाश्च | ७० |
| नेतृभेदकथनम् | ५४ | धीरप्रगल्भा | ७० |
| ललित | ५४ | अधीरप्रगल्भा | ७० |
| शान्त | ५४ | धीराधीरप्रगल्भा | ७० |
| धीरोदान | ५५ | मध्याप्रगल्भयोः प्रत्यङ्गपङ्क्तिधत्वम् | ७१ |
| धीरोद्धत | ५८ | परकीया | ७२ |
| शृङ्गारनायकभेदा | ६० | साधारणस्त्री (वेश्या) | ७३ |
| दक्षिण | ६० | साधारणस्त्रीव्यवहार | ७३ |
| शट | ६० | वैयाया काव्यनियम | ७३ |
| भृष्ट | ६१ | नायिकभेदान्तराणि | ७४ |
| अनुकूल | ६१ | स्वार्थनिपतिका | ७ |
| सहाया | ६२ | नाभङ्गसज्जा | ७६ |
| वि | ६२ | विरहोत्पण्डिता | ७६ |

| विषयाः | पृष्ठम् | विषयाः | पृष्ठम् |
|---------------------------------|---------|------------------------------|---------|
| खण्डिता ... | ७६ | नायकसहायाः ... | ८७ |
| कलहान्तरिता ... | ७६ | धर्मसहायाः ... | ८८ |
| विग्रलब्धा ... | ७७ | दण्डसहायाः ... | ८८ |
| प्रोषितभर्तृका ... | ७७ | अन्तःपुरसहायाः ... | ८८ |
| अभिमारिका ... | ७७ | नायकादीनां त्रैविध्यम् ... | ८८ |
| खण्डितादीनां चिन्तादियुक्तत्वम् | ७८ | वृत्तिसामान्यलक्षणम् ... | ८८ |
| नायिकासहायिन्यः ... | ७९ | कैशिकीवृत्तिः ... | ८८ |
| नायिकालङ्काराः ... | ८० | नर्माष्टादशभेदाः ... | ८९ |
| शरीरजालङ्काराः ... | ८० | नर्मरिक्ताः ... | ९१ |
| सप्त भाषा अपरजज्ञाः ... | ८० | नर्मस्फोटः ... | ९१ |
| दश भाषाः स्वभावज्ञाः ... | ८० | नर्मगर्मः ... | ९१ |
| भाषाः ... | ८० | सात्वतीवृत्तिः ... | ९२ |
| हास्यः ... | ८१ | सात्वत्यङ्गानि ... | ९२ |
| हेला ... | ८१ | संलापकः ... | ९२ |
| शोभा ... | ८२ | उत्थापकः ... | ९२ |
| कान्तिः ... | ८२ | साक्षात्यः ... | ९३ |
| माधुर्यम् ... | ८२ | परिवर्तकः ... | ९३ |
| दीप्तिः ... | ८३ | आरभटीलक्षणम् ... | ९३ |
| प्रागरम्भम् ... | ८३ | आरभट्यङ्गानि ... | ९३ |
| औदार्यम् ... | ८३ | संक्षिप्तिका ... | ९४ |
| धैर्यम् ... | ८४ | संकेतः ... | ९४ |
| सीला ... | ८४ | वस्तुस्थापनम् ... | ९४ |
| पितृमः ... | ८४ | अवपातः ... | ९५ |
| निष्ठितिः ... | ८५ | वृत्त्युपसंहारः ... | ९५ |
| विघ्नमः ... | ८५ | वृत्तिनियमः ... | ९५ |
| पितृकक्षिप्तम् ... | ८५ | प्रवृत्तिः ... | ९६ |
| मोहापिनम् ... | ८६ | संक्षुब्धादिपाठनियमः ... | ९६ |
| कुम्भिनम् ... | ८६ | आमन्यगप्रकारः ... | ९६ |
| विमोहः ... | ८६ | | |
| ललितम् ... | ८७ | तृतीयः प्रकाशः | |
| विह्वलम् ... | ८७ | नाटकस्य प्रथमप्रतिपादनेहेतुः | ९८ |

| विषयः | पृष्ठम् | विषयः | पृष्ठम् |
|-------------------------------------|---------|---------------------------------|---------|
| नाटकेतिकर्तव्यता ... | ९८ | अङ्गलक्षणम् ... | ११० |
| सूचननियमः ... | ९९ | अङ्गिरमपरिपोषणप्रकारः ... | १११ |
| रङ्गं प्रमाद्य भारतीवृत्त्याश्रयणम् | ९९ | धेसुविच्छेदनिषेधः ... | १११ |
| भारतीभेदनामानि ... | १०० | रमतिरोधाननिषेधः ... | ... |
| प्ररोचना ... | १०० | मुख्यतया धीरज्ञानान्यतर- | |
| आमुखम् (प्रस्तावना)... | १०० | रमाश्रयणम् ... | १११ |
| आमुखाङ्गानि ... | १०० | प्रत्यक्षाप्रदर्शनीयानि ... | १११ |
| कथोद्घातः ... | १०१ | नायकवधसूचननिषेधः ... | ११२ |
| प्रवृत्तकम् ... | १०१ | आवश्यकं न त्याज्यम् ... | ११२ |
| प्रयोगातिशयः ... | १०२ | अङ्गे पात्रमंख्या ... | ११२ |
| वीर्यद्वनामानि ... | १०२ | अङ्गान्ते पात्रनिर्गमः ... | ११२ |
| उद्घातलक्षणभेदाः ... | १०२ | नाटकेऽङ्गमंख्या ... | ११२ |
| अवलगितम् ... | १०३ | प्रकरणेऽतिवृत्तनायकौ | ११२ |
| प्रपञ्चः ... | १०३ | प्रकरणनायिका ... | ११२ |
| त्रिगतम् ... | १०४ | नाटिकोद्देशः ... | ११३ |
| छलनम् ... | १०४ | नाटिकेतिवृत्तनायकौ | ११४ |
| वाक्छेली ... | १०४ | नाटिकानायिका ... | ११४ |
| अधिवलम् ... | १०५ | नाटिकायां नायिकाप्राप्तिप्रकारः | ११४ |
| दण्डः ... | १०५ | नाटिकायां वृत्तिनियमः ... | ११५ |
| अयस्यन्दितम् ... | १०६ | माणलक्षणम् ... | ११५ |
| नालिका ... | १०६ | लास्याङ्गानि ... | ११५ |
| अमललापः ... | १०७ | प्रहसनलक्षणम् ... | ११६ |
| व्याहारः ... | १०७ | शुद्धप्रहसनम् ... | ११६ |
| मृदवम् ... | १०८ | निवृत्तमैकीर्णप्रहसने ... | ११६ |
| प्रस्तावनोत्तरं सूत्रधारनिर्गमनम् | १०८ | प्रहसने हास्यरमः ... | ११७ |
| नाटकेतिवृत्तस्वरूपम् ... | १०८ | द्विमलक्षणम् ... | ११७ |
| नायकस्य रमानुचिर्न त्याज्यम् | १०९ | व्यासोगलक्षणम् ... | ११७ |
| अङ्गलक्षणमधिकविभागाः ... | १०९ | समरेकारलक्षणम् ... | ११८ |
| पञ्चाकाप्रकरोविशेषः ... | १०९ | वीथीलक्षणम् ... | ११९ |
| विष्कम्भकादिप्रयोगः ... | ११० | अङ्गलक्षणम् ... | ११९ |
| विष्कम्भकनियमः ... | ११० | हृद्गलक्षणम् ... | १२० |

| विषयाः | पृष्ठम् | विषयाः | पृष्ठम् |
|---------------------------|---------|--------------------------------|---------|
| चतुर्थः प्रकाशः | | विबोधः ... | १३५ |
| रसरूपणम् ... | १२१ | ब्रीडा ... | १३६ |
| विभावलक्षणम् ... | १२१ | अपस्मारः ... | १३६ |
| आलम्बनविभावः ... | १२१ | मोहः ... | १३६ |
| उद्दीपनविभावः ... | १२१ | मतिः ... | १३७ |
| अनुभावः ... | १२२ | आलस्यम् ... | १३७ |
| भावः ... | १२४ | आवेगः समेदः ... | १३७ |
| सात्त्विकभावलक्षणम् ... | १२४ | वितर्कः ... | १३९ |
| स्वप्नादिसात्त्विकभावानां | | अवहित्या ... | १४० |
| नामलक्षणे ... | १२५ | व्याधिः ... | १४० |
| व्यभिचारिभावलक्षणम् ... | १२५ | उन्मादः ... | १४० |
| व्यभिचारिभावनामानि ... | १२६ | विपादः ... | १४१ |
| निर्वेदः ... | १२६ | औलुक्त्वम् ... | १४१ |
| म्लानिः ... | १२७ | चापलम् ... | १४१ |
| शङ्का ... | १२७ | स्थायी ... | १४२ |
| श्रमः ... | १२८ | विरोधपरिहारः ... | १४२ |
| भृतिः ... | १२८ | स्थापिनामानि ... | १४७ |
| जडता ... | १२९ | शान्तरसे शमस्थापिनि विप्र- | |
| हर्षः ... | १२९ | तिपत्तिः ... | १४७ |
| दैन्यम् ... | १३० | निर्वेदादेरस्थापित्वम् ... | १४९ |
| औष्ण्यम् ... | १३० | भावादीनां काव्येन संबन्धः | १४९ |
| चिन्ता ... | १३० | पूर्वपक्षिमुखेन व्यञ्जनाप्रति- | |
| श्रासः ... | १३१ | पादनम् ... | १५१ |
| अमूषा ... | १३१ | व्यञ्जनास्वादनपूर्वकस्यमतो- | |
| अमर्षः ... | १३२ | पयादनम् ... | १५४ |
| गर्वः ... | १३२ | काव्येषु स्थापिभावस्यैव | |
| रमृतिः ... | १३३ | वाक्यार्थत्वम् ... | १५४ |
| मरणम् ... | १३४ | सामाजिकमात्रवृत्तित्वं रमस्य | १६० |
| मदः ... | १३४ | रमास्वादप्रकारः ... | १६१ |
| मृतम् ... | १३४ | साधारण्यस्य रमहेतुत्वम् ... | १६१ |
| निद्रा ... | १३५ | रमास्वादप्रकारः ... | १६२ |

| विषयः | पृष्ठम् | विषयः | पृष्ठम् |
|-------------------------------|---------|----------------------------|---------|
| नटस्याऽऽव्यास्यादः ... | १६२ | शापञ्जप्रवासः ... | १७७ |
| आस्यादस्य लक्षण भेदाश्च | १६२ | मृते तु शोक एव न शृङ्गारः | १७७ |
| विभासादीनां व्यवस्था ... | १६२ | उत्ताष्टविधनायिकानां | |
| हास्यादीनां शृङ्गारादिभ्य उ- | | व्यवस्था... .. | १७८ |
| त्पत्तिश्च... .. | १६२ | सभोगशृङ्गारः ... | १७८ |
| शान्तरसः | १६४ | नायकवर्तव्यम् ... | १७९ |
| निभासादिभी रसभायनम् | १६५ | त्रिविधो धीरः ... | १७९ |
| शृङ्गारलक्षणम् ... | १६६ | त्रिविधो बीभत्सः ... | १८० |
| भावसख्या | १७० | त्रिविधो रौद्रः ... | १८१ |
| शृङ्गारस्य भेदाः ... | १७० | त्रिविधो हास्यः ... | १८२ |
| अयोगलक्षणम् ... | १७१ | स्मितम् | १८३ |
| अयोगस्य दशावस्थाः ... | १७१ | हसितम् | १८३ |
| अभिलाषलक्षणम् ... | १७१ | विहसितम् | १८३ |
| दर्शनधरणे ... | १७१ | उपहसितम् | १८३ |
| निमयोगलक्षणभेदौ ... | १७२ | अवहसितम् | १८३ |
| मानवैविध्यम् ... | १७२ | अतिहसितम् | १८३ |
| प्रणयमानः | १७३ | उत्तममध्यमाधमेषु स्मितादी- | |
| स्त्रीणामीष्यामानवैविध्यम् | १७३ | नां विभागः ... | १८३ |
| मानापनोदनप्रकारः . . | १७४ | हास्यव्याभिचारिणः ... | १८३ |
| साम | १७५ | अद्भुतरसलक्षणम् ... | १८३ |
| भेदः | १७५ | मयानवरसलक्षणम् ... | १८३ |
| दानम् | १७५ | करुणरसलक्षणम् ... | १८४ |
| नतिः | १७५ | प्रीतिरसस्य दीनमन्तर्भावः | |
| सामादीनां कार्यासाधकत्वे उोधा | १७५ | गूढम् | १८४ |
| रससादिना कोरनातो रसान्तरत्वम् | १७५ | भूषणादीनामन्तर्भावगूढम् | १८५ |
| त्रिविध प्रयत्नप्रयोग ... | १७६ | उत्तमरस | १८६ |
| संभ्रमप्रयत्नप्रयोगः . | १७७ | रसमन्तर्भावः | १८६ |

॥ श्रीः ॥

“मर्त्येऽसर्वविद्वैर्विहिते क नाम
मन्वेऽस्ति दौषविद् मुचिरन्तनेऽपि”

॥ श्रीः ॥

॥ श्री. ॥

अथ

सावलोकम्

दशरूपकम्

-SECRET-

प्रथमः प्रश्नाश्च

। भगवते श्रीहृदयपात्राय नमः ।

इह सदाचारं प्रमाणयद्भिरचितेन प्रकरणस्य समास्यर्थमिष्टयोः प्रवृत्ता-
भिमतदेवतयोर्नमस्कारः क्रियते श्लोकद्वयेन—

नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते ।

मदाभोगघनवानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ॥ १ ॥

यस्य कण्ठः पुष्करायते-मृदङ्गवदाचरति, मदाभोगेन घनध्वानः= निविडध्वनिः, नीलकण्ठस्य-शिवस्य ताण्डवे-उद्धते नृत्ते, तस्मै गणेश-

अथ

॥ सायलोकदशरूपकप्रभा ॥

॥ भगवते श्रीहृदयप्रियाय नमः ॥

आद्य विद्यानिदानं त्रिधिविबुधवैर्यन्यमानाद्विषयं

धाम्ना धामैन्दयानां दनुजभुजवृजा जन्मना छप्र गिराम् ।

प्रशालोकार्कमर्तिप्रतिरूतिममतिष्यान्तदन्त्येणशश्रु

वक्तुं भक्तपञ्चके हरिमिदं तुरगप्रीतिमुग्रं प्रपद्ये ॥

मत्स्या भ्रामद्वयप्रीव व्याख्याविम्विनाशनम् ।

हमुत्वा भीमत्वदाग्भोजं भीगङ्गाधरशाशिणाम् ॥

सायलोरदशरूपकटीका संतनोमि शिशुबोधविधार्थम् ।

सा प्रभेतिनिवनाग्नि समर्था स्याद्भुजेधरणवन्नृपात्. ॥

इह=प्रन्यासम्भे, सदाचारम्=शिष्टाचारम्, प्रमाणयद्विः=प्रमाणं मन्यमा-
नैर्प्रन्यासद्विरित्यर्थः, प्रकरणस्य=ग्रन्थस्य ।

पुष्करेति—“पुष्करं परिहस्ताग्ने याद्यभाण्डमुत्ते जले = इत्यमरः । ग्रहते याद्यभाण्डमुखेन मृदङ्गमुखं प्राक्षन्, पुष्करपद्मादाचारार्थे क्यप्, मदः=दानं परि-

भरतश्चकार करणाङ्गहारानकरोत्, हरस्ताण्डवमुद्धतं लास्यं सुकुमारं नृत्तं पार्वती कृतवती तस्य सामस्त्येन लक्षणं कर्तुं कः शक्तः, तदेकदेशस्य तु दशरूपस्य संक्षेपः क्रियत इत्यर्थः ।

विषयैक्यप्रसक्तं पौनरुक्त्यं परिहरति—

व्याकीर्णं मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः ।

तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ॥ ५ ॥

व्याकीर्णं=विक्षिप्ते विस्तीर्णं च रसशास्त्रे मन्दबुद्धीनां पुंसां मतिमोहो भवति, तेन तस्य नाट्यवेदस्यार्थस्तत्पदैरेव संक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति ।

इदं प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम् । दशरूपं किंफलमित्याह—

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः ।

योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराद्धमुखाय ॥ ६ ॥

नत्र केचित्—

“ धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ ”

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिं काव्यफलत्वेनेच्छन्ति तन्निरासेन स्वसं-
वेद्यः परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणां फलं न पुनरितिहासादिवत्
त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम् । नम इति सोल्लुण्ठम् ।

“नाटयानां लक्षणं संक्षिपामि” इत्युक्तम्, किं पुनस्तन्नाट्यमित्याह—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्,

काव्योपनिषद्बर्धरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्याप-

करणेति—“ इत्तपादममावोगो नृत्यस्य करणं भवेत् ” “ अङ्गहारोङ्गविशेषः ”
इत्यादि सर्वं भरतसूत्रे द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

विषयैक्येति—“ यदेव ब्रह्मणोक्तं तस्यैव वक्ष्यमाणत्वात् पौनरुक्त्यं यदाप-
तितं तत् परिहरतीत्यर्थः । व्याकीर्णं=मिश्रिते विभज्यानुक्ते इति यावत् । तत्पदैः=
भरतसूत्रोक्तपदैरेव । “ अञ्जसा ” इत्येत्यर्थः “ ऋजुवृत्त्या ” इति ॥ ५ ॥

इदं प्रकरणम्—अर्थं ग्रन्थ । दशरूपम्=नाटकादिकम् । साधु=नीरम इति
यावत् । सोल्लुण्ठम्=सगर्हिष्ठम्, उत्तमिति शेषः ॥ ६ ॥

अवस्थानुकारपदार्थमाह—तादात्म्यापत्तिरिति । तादात्म्यापत्तिरिति=रामादिरूप-
ताप्रदर्शनमिति यावत् । चतुर्विधेति—तदुक्तम्—“ आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः

त्तिर्नाट्यम् ।

रूपं दृश्यतयोच्यते ।

तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते नीलादिरूपवत् ।

रूपकं तत्समारोपाद्,

नटे रामाद्यवस्थागेपेण वर्तमानत्वाद्वृत्तं गुणचन्द्रादिकद् इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः' इतिवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः ।

दशधैव रसाश्रयम् ॥ ७ ॥

रसानाश्रित्य वर्तमानं दशप्रकारकम्, एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण—
नाटिकायाः संकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वान् ।

तानेन दशभेदानुदिशति—

नाटकं सप्रकरणं भाणः महसनं डिमः ।

व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥ ८ ॥

ननु—

“ डोम्वी श्रीगादितं भाणो भार्णाप्रस्थानरासकाः ।

काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः सुस्तेऽपि भाणनम् ॥ ”

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—

अन्यद्वावाश्रयं नृत्यम्,

सात्विकस्तया ॥ इति । भुजयिधेरादिकृत आङ्गिकः, वैशारचनादिनिष्पाद्य आहार्यः
स्वेदलग्नादिरूपः सात्विकोऽभिनयः । उक्तं च—

“ स्वेदः लग्नोऽयं रोमाजः स्वरभद्रोऽयं वेपथुः ।

दैर्घ्यमध्रु प्रणय इत्यष्टौ सात्विका मताः ॥ ” इति ।

समारोपादिनि— नटे रामादिरूपस्य समारोपान् तत्-रूपमेव रूपमित्युच्यते इत्यर्थः । वर्तमानत्वाद्-प्रवृत्तत्वात् । मुपेति—मुखे चन्द्राचारोपेणालङ्कारि-
गेरस्य यथा रूपवमिति नामधेयं तथेत्यर्थः । एकाभिन्नार्थे—नाट्यलक्षणेयं । शब्द-
प्रपञ्च—नान्यरूपरूपकेति शब्दत्रयस्य । दर्शितः—अवस्थेत्यादिलक्षणत्रयेण दर्शितः ।

रमाश्रयमिति— रमाः आश्रयो यस्य तद् रमाश्रयं नाट्यम् । रमश्च मृङ्गारादि-
भेदेनष्टविधो वक्ष्यते । वर्तमानम्—प्रवर्तमानम् ॥ ७ ॥

भाणनम्—मत्वात् । अन्धकारानुसरति—दशधैवेत्यवधारणानुसरति ॥ ८ ॥

भाण आश्रयो यस्य तद् भाणश्रयं नृत्यम्, भाणत्वेन च वाक्यार्थोभूतस्य

रसाश्रयान्नाट्याद्वावाश्रयं नृत्यमन्यदेव तत्र भावाश्रयमिति विषय-
भेदानृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात्तत्कारिषु च नर्तक-
व्यपदेशाल्लोकेऽपि च 'अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारान्नाटकादेरन्य-
नृत्यं तद्वेदत्वाच्चर्चागादितादेरवधारणोपपत्तिः । नाटकादि च रसविषयम्,
रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिकसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्था-
भिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् । नाट्यमिति च 'नट अव-
स्पन्दने' इति नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विकबाहुल्यम्, अत एव
तत्कारिषु नटव्यपदेशः । यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारा-
त्मकत्वेन नृत्तादन्यनृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाट्यात्पदार्थाभि-
नयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति ।

प्रसङ्गान्नृत्तं व्युत्पादयति—

नृत्तं ताललयाश्रयम् ।

तालश्चभ्युत्पदादिः, लयो द्रुतादिः, तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनय-

रसस्य पदार्थीभूता सात्त्विकादयो ग्राह्याः । उक्तं च—

“ विभावेनोद्भूतो योर्थऽस्त्यनुभावैश्च गम्यते

पागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संहितः ॥ ”

“ हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करण भवेत् ” इत्यादि ।

नृत्यनाट्ययोः परस्पर भेद व्युत्पादयितुं प्रथमं नृत्यस्य विषयं व्युत्पत्तिं च
प्रदर्शयति—तत्रेति, तत्र=नृत्यनाट्ययोर्मध्ये । नृतेः=नृतघातोः । आङ्गिकबाहुल्या-
त्=आङ्गिकाभिनयबहुलत्वात् । तत्कारिषु=नृत्यकारिषु । अन=नृत्ये प्रेक्षणीयक-
म्=दर्शनीयमेव सर्वं भवति, न ॥ अवर्णीयम्=नृत्ये कान्यसंबन्धाभावादित्यर्थः ।
अङ्गितादितादेस्तद्भेदत्वात्=नृत्यभेदत्वात् नाट्यस्य दशधैवत्यवधारणोपपत्तिः ।
नाट्यस्य विषयं व्युत्पत्तिं चाह—नाटकादीति, वाक्यार्थस्य पदार्थानां यः परस्परं
संसर्गस्तद्रूपत्वस्वाकाराद् रसस्य वाक्यार्थहेतुकस्य पदार्थीभूतविभावादिसंसर्गा-
त्मकवाक्यार्थाभिनयात्मकत्वम् “दशधैव रसाश्रयम्” इत्यनेन प्रदर्शितमित्यन्वयः ।
नृत्यस्य च पदार्थीभूतभावाभिनयात्मकत्वमिति नृत्यनाट्ययोर्विशयभेदः । नटेः=
नटघातोः । तत्कारिषु=सात्त्विककारिषु नाट्यकारिषु वा । यथेति—नृत्यनृत्ययोर्गात्र-
विक्षेपसाम्येऽपि नृतेऽनुकरणं न भवति नृत्ये च भवतीति नृत्यनृत्ययोर्व्याप-
र-पर भेदस्यार्थान्वयः ।

नृत्यापेक्षया नृत्तस्य भेदावधारणार्थं नृत्तलक्षणमाह—नृत्तमिति । द्रुतादिरि-

शून्यो नृत्तमिति ।

अनन्तरोक्तं द्वितयं व्याचष्टे—

आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥ ९ ॥

नृत्यं पदार्थाभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम्, नृत्तं च देशीति ।
द्विविधस्यापि द्वैविध्यं दर्शयति—

मधुरोद्धतभेदेन तद्वयं द्विविधं पुनः ।

छास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥ १० ॥

मुकुमारं द्वयमपि छास्यम् उद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति । प्रसङ्गो-
च्छयोपयोगं दर्शयति—तच्च नाटकाद्युपकारकमिति, नृत्यस्य कचिदवा-
न्तरपदार्थाभिनयेन नृत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादाद्युपयोग इति ।

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात्किञ्चित्तो भेद इत्याशङ्क्याह—

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः,

वस्तुभेदाज्ञायकभेदाद्रसभेदाद्रूपाणामन्योन्यं भेद इति ।

वस्तुभेदमाह—

वस्तु च द्विधा ।

कथमित्याह—

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रामादिकं विदुः ॥ ११ ॥

प्रधानभूतभाविगारिकं यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तः, तदङ्गभूतं
प्रासादिकं यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति ।

स्वप्नादिपदेन मध्यविलम्बितौ लयी ग्राह्यौ । तन्मात्रापेक्ष—ताललयमात्रापेक्ष ।
पदार्थाभूतभावाद्यभिनयात्मकत्वाद् नृत्यमभिनयश्च न भवतीत्यर्थः ।

देवैर्मृगितत्वाद् नृत्यस्य मार्ग इति प्रामादिकः, तत्तद्देशसंबद्धत्वाद् नृत्तस्य
देशीति प्रामादिकः । आद्यं नृत्यम्, परं नृत्तम् ॥ ९ ॥

द्विविधस्य-नृत्यनृत्तयोरेतत्पर्यः । तद्वद्वयम्-नृत्यं नृत्तं च । मुकुमारमिति
मधुरपदव्याख्या । द्वयम्-नृत्यं नृत्तं च । द्वितयम्-नृत्यं नृत्तं च । उच्यते इति शेषः ।
तथा=द्विविधमपि नृत्यं नृत्तं च । नृत्यनृत्ताभ्यां नाट्योपकारप्रकारमाह-
नृत्यस्येति ॥ १० ॥

अनुवादः-अनुकरणम् । वस्तु-इतिनृत्तं कथेति यावत् ॥ ११ ॥

निरुत्तयाऽऽधिकारिकं लक्षयति—

आधिकारः फलस्वाम्यधिकारी च तत्प्रभुः ।

तन्निर्वर्त्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥ १२ ॥

फलेन स्वस्वामिसंबन्धोऽधिकारः फलस्वामी चाधिकारी तेनाधिकारेणा-
धिकारिणा वा निर्वृत्तम्=फलपर्यन्तता नीयमानमिति वृत्तमाधिकारिकम् ।

प्रासङ्गिकं व्याचष्टे—

प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्यार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य सतसत्प्रसङ्गात्त्वप्रयोजनसिद्धिस्तत्प्रास-
ङ्गिकमिति वृत्तं प्रसङ्गनिर्वृत्तेः ।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीभेदाद्विविधमित्याह—

सानुबन्धं पताकारूपं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥ १३ ॥

दूरं यवनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवाविवृत्तान्तवत्-पताके-
चासाधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात्, यदल्पं सा प्रकरी श्रमणावि-
वृत्तान्तवत् ।

पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानकं व्युत्पादयति—

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम् ।

पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥ १४ ॥

प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचकं रूपं पताकावद्भवतीति पताका-
स्थानकं तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारम्—अन्योक्ति-

निरुक्त्या=व्युत्पत्त्या । तत्प्रभु=फलप्रभुः फलस्वामी । निर्वृत्तम्=भवादि-
तम् । इतिवृत्तम्=कथा ॥ १२ ॥

प्रासङ्गिकं वस्तु । तत्प्रसङ्गात्=प्रधानसंबन्धात् प्रधानद्वारेति यावत्, प्रसङ्ग-
निर्वृत्ते,=प्रधानप्रसङ्गेन जायमानत्वात् । सुग्रीवादीनिवृत्तात् श्रीरामादिप्रधानप्रसङ्गे-
नैव सुग्रीवादिप्रयोजनसिद्धिर्भवतीति सुग्रीवादीनिवृत्त प्रासङ्गिकमिति भावः ।

अल्पम्=अल्पदेशे वर्तमानम् । यत् प्रासङ्गिकम् ॥ १३ ॥

प्रस्तुतेति—प्रस्तुतस्य=प्राकरणिकस्य आगन्तुकभावस्य=आगन्तुस्वरूपस्य भा-
विन इति यावत् वस्तुनः=इतिवृत्तस्य यद् अन्योक्त्या सूचकं भवति तत् पताकास्थान-
कमित्युच्यते पताकावत्सूचकत्वात्, तच्च पताकास्थानकं द्विविधं भवति—तुल्यसंवि-
धानम्=तुल्येतिवृत्ततयाऽन्योक्तिरूपेण सूचकम्, तुल्यविशेषणम्=तुल्यविशेषणतया

समासोक्तिभेदान् । यथा रत्नावल्याम्—

“यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तन्ननिविष्टकरः करोति ॥”

यथा च तुल्यविशेषणतया—

“उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-

दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।

अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं

पश्यन्कोपनिपाटलद्युतिं मुरं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥”

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासद्विक्रमेदाभिविधस्यापि त्रैविध्यमाह—

प्रख्यातोत्पाद्यामिश्रत्वभेदाच्चेथापि तत्रिधा ।

प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं केविकल्पितम् ॥ १५ ॥

मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ।

इति निगदव्याख्यातम् ।

समामोक्तिरूपेण सूचकं चेत्यन्वयः । अन्योक्तिरूपेण तुल्येतिवृत्ततया सूचकं पतारा-
स्थानकमुदाहरति—यातोऽस्मीति । प्रत्यायनाम्—आभासनाम् । अत्र कमलिनीसूर्यनु-
त्पान्तेनाऽन्यनायिकानायकयोर्माविगुणान्तोऽन्योक्तिरूपेण—अप्रस्तुतप्रशंसया सूचितो
भवति “अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् सा यत्र प्रस्तुताभया” इति । तुल्यविशेषणतया समा-
सोक्तिरूपेण सूचकं पताकास्थानकमुदाहरति—उद्दामेति, अत्र “उद्दामोत्कलिकाम्”
इत्यादीनां भिन्नगणानां स्वानायिकापक्षयोस्तुल्यत्वाल्लतावृत्तान्तेन समासोक्त्या
नायिकानुत्पान्तः सूचितो भवति “समामोक्तिः परिस्फुटिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य यन्”
इति ॥ १४ ॥

एवमेव त्रिधमाधिकारिकं यस्तुक्तं पताकाप्रकारीभेदाद् द्विविधं प्रास-
द्विक्रमं यस्तुलमिति त्रिविधं जातं तस्य त्रिविधस्यापि त्रैविध्यमाह—प्रख्यातेति ।
त्रिविधस्य त्रैविष्याद् नाविधत्वं सजातम् । इतिहासादिभ्यो गृहीतं यस्तु प्रख्यात-
मित्युच्यते, केविकल्पितं चोत्पाद्यमित्युच्यते, ताम्याम्—प्रख्यातोत्पाद्याभ्यां संकराद्
नाम यत्र द्विविद् प्रख्यातं द्विविधं केविकल्पितं तत् मिश्रमित्युच्यते इत्यन्वयः ।
तस्य नान्यविधस्यापि यस्तुनो दिव्यमर्त्यभेदाद् द्वैविध्यमाह—दिव्येति ।

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥ १६ ॥

धर्मार्थकामाः फलं तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्वित्र्यनुबन्धं वा ।

तत्साधनं व्युत्पादयति—

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्वीजं विस्तार्यनेकधा ।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीज-
वद्वीजं यथा रत्नावल्या वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुमूलदैवो यौ-
गन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्त—“यौगन्धरायणः—रुः संदेहः
(‘द्वीपादन्यस्मात्—’ इति पठति)” इत्यादिना “प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो
वृद्धिहेतौ” इत्यन्तेन ।

यथा च घेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपयितयुधिष्ठिरो-
त्साहो वीजमिति । तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति ।

अवान्तरबीजस्य संशान्तरमाह—

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥ १७ ॥

यथा रत्नावल्यामवान्तरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे
सत्यनन्तरकार्यहेतुः—“उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते । सागारिका—(श्रुत्वा)
कहं एसो सो उदयणारिन्दो जस्त अहं तादेण दिण्णा ।” इत्यादि ।
बिन्दुः—जले तैलबिन्दुवत्प्रसारित्वात् ।

कार्यम्=फलम् । तच्च फलं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकैकं नाम धर्मार्थकामेष्वेकमेव
भवतीति तदेकानुबन्धम्, द्वयोः फलस्य फलं द्वयनुबन्धं त्रयाणां फलस्य फलं त्र्यनु-
बन्धम्—त्रिवर्गमित्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥

तत्साधनम्=उक्तफलसाधनं व्युत्पादयति=कथयति । स्वल्पोद्दिष्टः=स्वल्प-
तया निश्चितः प्रारम्भे स्वल्प इति यावत् । पुरस्तात्=अग्रे । तच्च=बीजम् ।
स्पष्टमन्यत् ।

अवान्तरेति—अवान्तरस्यासमाप्तौ सत्या प्रधानस्याया अविच्छेदकारणं
बिन्दुरित्यर्थः । स चाऽवान्तरबीजमेव । जले तैलबिन्दुवत् प्रसारित्वाद् बिन्दु-
रित्युच्यते तदेतत् प्रवृत्तिनिमित्तम् ॥ १७ ॥

इदानीं पताकाद्यं प्रसङ्गाद्व्युत्क्रमोक्तं क्रमार्थमुपसंहरन्नाह—

बीजविन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणः ।

अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः ॥ १८ ॥

अर्थप्रकृतयः=प्रयोजनसिद्धिहेतवः ।

अन्यद्वस्थापञ्चकमाह—

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारम्भस्य फलार्थिभिः ।

आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥ १९ ॥

ययोद्देशं लक्षणमाह—

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ।

इदमहं संपादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते यथा रत्नाव-
ल्याम्—“प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनौ वृद्धिहेतौ दैवे चेत्यं दत्तहस्तावलम्बे ।”
इत्यादिना सचिगायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुरेन
वर्णितः ।

अयं प्रयत्नः—

प्रयत्नस्तु तदभासौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥ २० ॥

तस्य फलप्राप्त्याद्युपाययोजनादिरूपश्रेष्ठाविशेषः प्रयत्नः यथा रत्ना-
वल्यामालेख्याभिलेखनादिवत्सराजसमागमोपायः—“तंदावि णत्थि अण्णो
दंसणुवाओ त्ति जहातहा आलिहिअ जवासमीहिअं करिस्सम् ।” इत्या-
दिना प्रतिपादितः ।

प्राप्त्याशानमाह—

उपायापायशङ्कान्भ्यां प्राप्त्याशा माप्तिर्संभवः ।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्यागा ।
यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽष्टे वेपपखित्तोभिसरणादौ समागमोपाये सति या-

अरस्या इति—फलार्थिमिश्ररब्धस्य कार्यस्वारम्भाद्याः पञ्चावरथा भवन्ति ।

फलागमः=फलप्राप्तिः ॥ १८ ॥ १९ ॥

सचिगायत्तसिद्धेः=अमान्यार्थानां फलसिद्धिर्यस्य तस्य ॥ २० ॥

भागात्=मात्रम् । अनिर्धारितैकान्ता=नियतनिर्धारणरहिता ।

१ ‘तपाणि नास्त्यन्यो दत्तबोपाय इति यथातयाल्लिख्य यथासमीहितं
करिष्यामि’ इति श्रुत्या.

सवदत्तालक्षणापायशङ्कायाः—“एवं यदि अभावादाली विभ आजच्छिअ
अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता ।” इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता
समागमप्राप्तिरुक्ता ।

नियताप्तिमाह—

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ॥ २१ ॥

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति । यथा रत्नाव-
ल्याम्—“विदूषकः—सांगरिका दुष्तरं जीविस्सदि ॥” इत्युपक्रम्य “किं
ण उपायं चिन्तेसि ।” इत्यनन्तरम् “यज्जा—ययस्य? देवीप्रसादनं मुक्त्वा
नान्यमत्रोपायं पश्यामि ।” इत्यनन्तराद्वार्यविन्दुनानेन देवालक्षणापाय-
स्य प्रसादनेन निवारणाभियता फलप्राप्तिः सूचिता ।

फलयोगमाह—

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो ययोदितः ।

यथा रत्नावल्यां रत्नावलीलामचर्यवर्तितावाप्तिरिति ।

संधिलक्षणमाह—

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ॥ २२ ॥

यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च संघयः ।

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासंख्येनावस्थाभिः पञ्चभिर्योगाद् यथासंख्ये-
नैव पश्यमाणा मुखाद्याः पञ्च संघयो जायन्ते ।

संधिसामान्यलक्षणमाह—

अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति ॥ २३ ॥

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां यथांशानामगन्तरैकप्रयोजनसंबन्धः संधिः ।

अत्रायः=अन्तरायो विप्र इति शान्तम् । अपधारितैरान्ता=नियमेन निश्चिता ॥ २१ ॥

फलयोगः=फलप्राप्तिः । संपत्तिः=प्राप्तिः ।

अर्थप्रकृतयो बीजाद्याः, अवस्था आरम्भाद्या उक्ताः ॥ २२ ॥ यथासं-
ख्येन=यथासंख्यम् । यथा बीजारम्भाभ्यां मुक्तादिभिः, एकमप्रेक्ष्य ।

अर्थप्रकृतीनामवस्थानां च परस्परं संयोगादेव मुक्तादिकं संधिरित्युच्यते ।

अगन्तरैकप्रयोजनसंबन्ध एव सामान्यतः संधीनां फलमिति ॥ २३ ॥

१ ‘एव यदालक्षणापायशङ्काया न वेध्यति वागवदत्ता ।’ इति शब्दा-
२ ‘सांगरिका दुष्तरं जीविष्यति ।’ इति शब्दाः । ३ ‘किं उपायं चिन्तयति ।’
इति शब्दाः ।

के पुनस्ते संबन्धः—

मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा ॥ २४ ॥

अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ।

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसंघिरिति व्याख्येयं तेनाश्रितवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति ।

अस्य च बीजारम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति तान्याह—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ २५ ॥

उक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।

उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यय लक्षणम् ॥ २६ ॥

एतेषां स्वसंज्ञाव्याख्यातानामपि मुख्यार्थं लक्षणं क्रियते—

बीजन्यास उपक्षेपः,

यथा रत्नावल्याम्—“ (नेपथ्ये)

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि भलनिधेर्दिशोऽप्यन्तान् ।

जानीय हृदियति घटयति त्रिधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥ ”

इत्यादिना यौगन्धगयणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतममुदूलदैवं स्वव्यापारं बीजत्वेनोपश्लिप्तवानित्युपक्षेपः ।

परिकरमाह—

तद्वाहुल्यं परिक्रिया ।

‘नानार्थरसमभवा’ इत्यर्थार्थदेन धर्मार्थकामलक्षण नानारूप प्रयोजन प्राप्त्यं तादृशार्थहेतुभूता रसहेतुभूता च या बीजस्य प्रथमार्थप्रकृतेरुत्पत्तिः फलानुदुलता सा मुखमन्धिरित्यर्थः । एतद्व्याख्यायाः फलमाह—तेनेति, प्रहसनादौ वैरगिर्कं फल निमित्तं न भवति इत्यादिमात्रफलत्वादिति तादृशाहस्यादिरमोत्यनिभाप्रदेनोरेव बीजत्वमुपपद्यते, यदि नानार्थरसेत्युभयहेतोरेव बीजत्वस्यापि प्रहसनादौ नानार्थलक्षणफलाभावात् केवलरसोत्पत्तिहेतोर्बीजत्व न स्यादेवेत्यर्थः ॥ २४ ॥

अस्य=मुखमन्धे । तानि=अङ्गानि ॥ २५ ॥

१ ‘संप्रया’ इत्यपि पाठः.

यथा तत्रैव—“अन्यथा क सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थिताया सिंहलेश्वरदु-
हितु समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थिताया फल्कासादनमा” इत्यादिना “सर्वथा
स्युशान्ति स्वामिनमभ्युदया ।” इत्यन्तेन वीजोत्पत्तेरेव ब्रह्मकरणात्पारिकर ।

परिन्यासमाह—

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः,

यथा तत्रैव—

“प्रारम्भेऽस्मिन्स्थामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्य दत्तहस्तावलम्ब्ये ।

सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्य तथापि स्वेच्छाकारी भीत एवास्मि भर्तु ॥”

इत्यनेन यौगन्धरायण स्वज्यापारदैवयोर्निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यास ।

विलोभनमाह—

गुणाख्यानं विलोभनम् ॥ २७ ॥

यथा रत्नात्रयाम्—

“अस्तापास्तसम्भ्रतभासि नभस पार प्रयाते रवा-

यास्थानी समये सम नृपमन सायतने सपतन् ।

सप्रत्येप सरोरहद्युतिमुप पादास्तगतेष्वितु

प्रीत्युत्कर्षितो दृश्यामुदयनम्येन्दोरिवोद्गीक्षते ॥”

इति वैतालिकमुनेन चन्द्रतुल्यक्तराजगुणवर्णनया सागरिकाय ।
समागमहेत्वतुरागरीजानुगुण्येनैव विलोभनाद्विलोभनमिति ।

यथा च वेणीसिद्धारे—

“मन्थायस्तार्णवाम्भ-प्लुतकुहरवलन्मन्दग्ध्रानधीर

कोणाघातेषु गर्जेत्प्रलयधनधगान्योन्यसघट्टचण्ड ।

कृष्णाक्रोधाग्रदूत कुरुरुलनिधनोत्पातनिर्घातयात

केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसरो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥”

इत्यादिना “यशोदुन्दुभि ” इत्यन्तेन द्रौप्या विलोभनाद्विलोभनमिति ।

अङ्गलक्षणानि तेषा समन्वयश्च स्पष्ट एव ।

तन्निष्पत्तिरिति—तस्या परिनिष्पत्तिरिति सिद्धिः ॥ २७ ॥

अथ युक्तिः—

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः,

यथा रत्नावल्याम्—“मयापि चैनां देवीहस्ते स्मदुमानं निक्षिपता युक्त-
मेवानुष्ठितम् । कथितं च मया यथा वाभ्रव्यः कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन
यमुभूतिना सह कथंकथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतस्य रुम-
ण्वतो घटितः ।” इत्यनेन सागारिकाया अन्तःपुरस्थाया क्लृप्तराजस्य सुरेन
दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद्वाभ्रव्यसिंहलेश्वरामात्ययोः स्वनायकसमागम-
हेतुप्रयोजनत्वेनावधारणायुक्तिरिति ।

अथ प्राप्तिः—

प्राप्तिः सुखागमः ।

यथा वेणीसंहारे—“वेटी—भट्टिणि ! परिकुविदो विम कुमारो ल-
क्ष्मीपतिः ।” इत्युपक्रमे ‘भीमः—

ममामि कौरवशतं समरे न कोपा-

दुःशासनस्य हथिरं न विनाम्युरस्तः ।

संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु

संधिं परोतु भरतां नृपतिः पणेन ॥

द्रौपदी—(भुत्वा सहर्षम्) नांघ अस्तुदपुञ्जं सु एदं वज्रणं ता पुणो पुणो
भण ।” इत्यनेन भीमप्रोभनीजान्वयेनैव सुखप्राप्त्या द्रौपद्याः प्राप्तिरिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—“सागारिका—(भुत्वा सहर्षं परिवृत्य ससृह
पश्यन्ती) कैधं अर्भं सो रामा उदयणो जस्त अहं तदेण दिण्णा ता
परिपेसणदूसिद्धं मे जीविद्धं एदस्त दंसणेण घट्टमद्धं संजादम् ।” इति
सागारिकायाः सुखागमाख्यातिरिति ।

अथ समाधानम्—

वीजागमः समाधानम्,

“स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वेनावधारणात्” इतिपाठमिन्तनीयः ।

भीमेति—भीमप्रोधरूपवीजसम्बन्धेन द्रौपद्याः सुखप्राप्त्या प्राप्तिरित्यर्थः ।

१ ‘भट्टि ! परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते ।’ इति श्रुत्या. २ ‘नाघ !
अस्तुतर्कं सन्वेत्तव्यम तत्पुन. पुनर्मव ।’ इति श्रुत्या. ३ ‘वधमय ए राजो-
दयनो यस्याहं तातेन दत्ता तत्तत्प्रेषणदूषितं मे जीवितमेतस्य दर्शनेन बहुमत
संजातम् ।’ इति श्रुत्या ।

यथा रत्नावल्याम्—“वासवदत्ता—तेजं हि उज्जोहि मे उवअरणाइं ।
सागरिका—भेट्टिणि एदं सव्वं सज्जम् । वासवदत्ता—(निरुप्यात्मगतम्)
अहो प्रमादो परिअणस्स जस्स एव्व दंसणपहादो पअत्तेण ररुखीअदि तस्स
जेव कहं दिट्ठिगोअरं आअदा भोदु एव्वं दाव (प्रकाशम्) हजे सागरिए
कीस तुमं अज्ज पराहीणे परिअणे मअणूसवे सारिकां मोत्तूण इहागदा ता
तहिं जेव गच्छ ।” इत्युपक्रमे “सागरिका—(स्वगतम्) ‘सारिका द्वाय
मप सुसंगदाए हत्थे समप्पिदा पेक्खिदुं च मे कुतूहलं ता अलस्सि-
आ पेक्खिस्सम् ।” इत्यनेन वासवदत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोर्दर्श-
नप्रतीकारात्सारिकायाः सुसंगतार्पणेनालक्षितप्रेक्षणेन च वत्सराजसमा-
गमहेतोर्बीजस्योपादानात्समाधानमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—“भीमः—भवतु पाञ्चालराजतनये श्रूयताम-
ऽचिरैरेव कालेन

चञ्चद्भुजधर्मितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
हत्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तत्र देवि भीमः”
इत्यनेन वेणीसंहारेणोः शोभनीजस्य पुनरुपादानात्समाधानम् ।
अथ विधानम्—

विधानं मुखदुःखदृत् ॥ २८ ॥

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के—“माधवः—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दाष्टत्तष्टन्तशतपयनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्मलाक्ष्या
गाढं निर्यात इव मे हृदये फटाश्रः ॥

समाधानं नाम मुक्त्या व्यवस्थापनं तदेव बीजगम इत्युच्यते • पत्सराजस-
मागमहेतोर्बीजस्यौत्पत्त्यरूपस्वेत्यर्थः ।

१ ‘तेन क्षुपनय म उपकरणानि ।’ इति च्छाया. २ ‘भर्त्रि ! एतन्मुखं
सखम् ।’ इति च्छाया. ३ ‘अहो प्रमादः परिजनस्य यस्यैव दर्शनपयात्रपत्रेण
रस्यते तस्यैव रूपं दृष्टिगोचरमागता भवतु एवं तावत् चेद्वि सागरिके । कथं त्वमपि
पराधीने परिजने मदगोत्रावे सारिकां मुकुवेहागता तस्मात्तत्रैव गच्छ ।’ इति
च्छाया. ४ ‘सारिका तावन्मया सुसंगताया हस्ते समर्पिता प्रेषितुं च मे कुतूहलं
तदलक्षिता प्रेषित्वे ।’ इति च्छाया ।

यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाद-

मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।

तत्संनिधौ तदधुना हृदयं मदीय-

मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥”

इत्यनेन मालत्यवलोकनस्यानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधव-
स्य सुखदुःखकारित्वाद्विधानमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—“द्रौपदी—णोथ पुणोवि तुम्मेहिं अहं आअ-
च्छिअ समासासिदव्वा । भीमः—ननु पाञ्चालराजतनये किमद्याप्य-
लीकाश्वासनया ।

भूयः परिभवहान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।

अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥”

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद्विधानमिति ।

अथ परिभावना—

परिभावोऽद्भुतावेशः,

यथा रत्नावल्याम्—“सागरिका—(दृष्ट्वा सविस्मयम्) कथं पथक्लो
ज्जेव अणङ्गो पूअं पडिच्छेदिता । अहंपि इध द्विद ज्जेव णं पूजइस्सम् ।”
इत्यनेन वत्सराजस्यानङ्गरूपतयापहवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाप्रहणस्य
लोकोत्तरत्वादद्भुतरसावेशः परिभावना ।

यथा च वेणीसंहारे—“द्रौपदी—किं दारिणि एसो पलअजलघरत्थणि-
दमंसलो रणे रणे समरदुन्दुभी ताडयिदि ।” इति लोकोत्तरसमरदु-
न्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद्द्रौपद्याः परिभावना ।

अथोद्भेदः—

उद्भेदो गूढभेदनम् ।

यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य पुत्रमुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैनालिकवचसा
मालतीति—ममागमहेतुत्वं मालत्यवलोकनस्यानुरागस्य च विशेषं तयोरेव
च सुखदुःखकारित्वमपि ॥ २८ ॥

१ ‘नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य ममाश्वासयितव्या ।’ इति षष्ठाया. २ ‘अथ
प्रत्यक्ष एवानतः पूजां प्रतिच्छेदिता । अहमपीहस्थितैवेन पूजयिष्यामि ।’ इति
षष्ठाया. ३ ‘क्षिमिशानीमेव प्रलयजलघरस्तनितमांसलः क्षणे क्षणे समरदुन्दु-
भिन्नाप्यते ।’ इति षष्ठाया ।

“अस्तापास्त” इत्यादिना “उदयनस्य” इत्यन्तेन बीजानुगुण्येनैवोद्वेदना-
दुद्वेदः ।

यथा च वेणीसंहारे—“आर्य किमिदानीमव्यवस्यति गुरुः ।” इत्युपक्रमे
“(नेग्ये)

यत्सत्यप्रतभङ्गर्भारुमनसा यत्रेन मन्दीकृतं

यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।

सहयूतारणिसंभृत नृपसुतावेशाम्बराकर्षणैः

क्रोधज्योतिरिदं महत्पुरुषेण यौविष्ठिरं जृम्भते ॥

भीम—(सहायम्) जृम्भता जृम्भता संप्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोध-
ज्योति । ” इत्यनेन छन्नस्य द्रौपदीकेगसंयमनहेतोर्युधिष्ठिरक्रोधस्योद्वेद-
नादुद्वेदः ।

अथ करणम्—

करणं प्रकृतारम्भः,

यथा रत्नावल्याम्—“णमो वे कुसुमाब्ज ता अमोहदंसणो मे भवि-
स्ससि त्ति । दिट्ठ जं पेक्खिदध्वं ता जाण ण कोवि मं पेक्खइ ता गमि-
स्सम् । ” इत्यनेनानन्तराङ्कप्रकृतनिर्विघ्नदर्शनारम्भणात्करणम् ।

यथा च वेणीसंहारे—“ तत्पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं दुरुकुलश-
याय इति । सहदेवः—आर्य ! गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्र-
मानुरूपमाचरितुम् । ” इत्यनेनानन्तराङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात्क-
रणमिति । सर्वत्र चेद्देशप्रतिनिर्देशवैषम्यं त्रियाक्रमस्याविवक्षि-
तत्वादिति ।

सर्वत्रेति—दृष्ट=उदाहृतवाक्येषु, उद्देशस्य=प्रथमस्थानस्य, प्रतिनिर्देशस्य=
पश्चात्स्थानस्य च वैषम्यं व्युत्पद्यते यथा “विक्रमानुरूपमाचरितुम्” इति
प्रथमं वक्तव्यमासीत् तत् पश्चादुक्तम्, “गच्छाम” इति पश्चाद्वक्तव्यमासीत् तत्
प्रथममुक्तमित्येवोद्देशप्रतिनिर्देशयोर्वैषम्यम्, एतादृशवैषम्ये हेतुमाह—त्रियानमस्येति,
क्रियाक्रमस्य विवक्षितत्वे तु “विक्रमानुरूपमाचरितुं गच्छाम.” इत्येवमेव वक्त-
व्यम्—गमनक्रियाया एव प्रधानत्वाद् विक्रमानुरूपाचरणस्य विशेषणीभूतत्वात्
सर्वप्रधानस्यैवान्त्ये वक्तव्यत्वादित्यर्थः ।

१ ‘नमस्ते कुसुमाब्ज तदमोषदर्शनो मे भविष्यतीति । दृष्टं व्यपेक्षितव्यं
तथापि कोऽपि मां प्रेक्षते तद्वमिच्छामि ।’ इति च्छाया ।

अथ भेदः—

भेदः प्रोत्साहना मता ॥ २९ ॥

यथा वेणीसंहारे—“ णाघ ! मा क्खु जण्णसेणीपरिभवुहीविदकोवा
अणपेक्खिदसरीरा परिकमिस्सथ जदो अप्पमत्तसंचरणीयाइं सुणीयन्ति
रिउज्जलाइं । भीम.—अयि सुश्रत्रिये !

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मप्राना स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।

स्फीतासृक्पान्तगोष्ठारसदशिवशियातूर्यनृत्यत्कवन्धे

सह्यमैकार्णवान्त पयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥ ”

इत्यनेन विपण्णाया त्रौपद्या. नोद्योत्साहवीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहना-
भेद इति ।

एतानि च द्वादशमुत्पाद्धानि बीजारम्भद्योतरानि साक्षात्पारम्पर्येण
वा विधेयानि । एतेषामुपक्षेपपरिकरपणिन्यासयुस्त्युद्भेदसमाधानानामव-
श्यमावितेति ।

अथ साङ्गं प्रतिमुखसंधिमाह—

लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।

निन्दुमयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥ ३० ॥

तस्य बीजस्य किञ्चिदलक्ष्य. किञ्चिदलक्ष्य इत्युद्भेद.=प्रकाशनं तत्प्रति-
मुखम् । यथा रत्नावल्या द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोर-
नुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्या ज्ञायमानतया

बीजारम्भेति—बीजारम्भयोर्द्योतकानि, साक्षाद्द्योतकत्वेन वा तदसंभवे पर-
स्परया द्योतकत्वेन वा विधेयानि—संवाधानीत्यर्थः । एतेषाम्=उत्तद्वादशाद्धाना
मध्ये ॥ २९ ॥

द्वितीये प्रतिमुखमन्विष्यमाह—लक्ष्यालक्ष्यतयेति ।

“तत्प्रतिमुखात्” इत्यत्रत्यं तत्तद् यत्तदसाक्षात्प्रतिमिति यत्रेतिपदमप्याहृत्य
समन्वयः कर्तव्यः—उत्तद्प्रकाशनं यत्र तत् प्रतिमुखमिति ।

१ ‘ नाथ ! मा क्खु याण्णसेनीपरिभवोहीपित्तोपा अनपेक्षितसरीरा-
परिकमिस्सथ यत्तद्व्यमत्तसंचरणीयानि धूयन्ते रिउज्जानि ।’ इति पद्याया ।

२ “ लक्ष्यलक्ष्य इत्युद्भेदः ” इति पाठान्तरम्

किंचिलक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किंचिदुज्जीयमानस्य
दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेदः प्रतिमुखसधिरिति ।

घेणीसंहारेऽपि द्वितीयेऽङ्के भीष्मादिवक्त्रेण किंचिलक्ष्यस्य कर्णाद्यऽवभा-
चाऽलक्ष्यस्य क्रोधवीजस्योद्भेदः ।

“सहभृत्यगणं स्रवान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।

स्वरलेन निहन्ति सयुगे न चिरात्पाण्डुसुत मुयोधनम् ॥”

इत्यादिभिः

“दुःशासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने
दुर्योधनस्य च यया गदयोरुभङ्गे ।

तेजस्विना समरमूर्धनि पाण्डवानां

ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥”

इत्येवमादिभिश्चोद्भेदः प्रतिमुखसधिरिति ।

अस्य च पूर्वोक्तोपक्षिप्तनिन्दुरूपवीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशा-
ङ्गानि भवन्ति, तान्याह—

विलासः परितर्पथ विधूतं शमनर्मणी ।

नर्मद्युतिः प्रेगमनं निरोधः पर्युपासनम् ॥ ३१ ॥

वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

यथोद्देश लक्षणमाह—

रत्यर्थेहा विलासः स्याद,

यथा रत्नावल्याम्—“सागरिका—हिअअ पसीद पसीद किं शमि-
णा जाआसमेत्तफलेण दुहहजणप्पत्यणाणुनन्धेण ।” इत्युपक्रमे “तहा-
वि आलेखगद त जणं कदुअ जघासमीहिदं करिस्सम्, तहावि तस्स

अस्य—प्रतिमुखसन्धौ । मुखसन्धौ यदेव घ्रीन भवति तदेव प्रतिमुखसन्धौ
विन्दुत्वं प्राप्नोति प्रसारित्वादित्याशयेनोक्तम्—विन्दुरूपनीति । प्रयत्नश्चाऽवस्था,
तादृशार्थानुगतानि=सवद्धानीत्यर्थः ॥ ३० ॥

रत्यर्थेहा=मुखार्थेच्छा विलासः ।

१ ‘प्रगयणम्’ इत्यपि पाठ २ ‘रत्यर्थेहा’ इत्यपि पाठ ३ ‘हृदय,
प्रसीद प्रसीद किमनेनायासमात्रफलेन दुर्लभजनप्रार्थनानुवन्धेन ।’ इति च्छाया ।
४ ‘तथाप्यलेखगत ॥ जनं कृत्वा यथासमीहितं करिष्यामि । तद्यपि तस्य
नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति ।’ इति च्छाया ।

णस्थि अण्णो दंसणोवावत्ति । ” इत्येतैर्वत्सराजसमागमरतिं चित्रादिज-
न्यामप्युद्दिश्य सागरिकायाश्चेष्टाप्रयत्नोऽनुरागवीजानुगतो विलास इति ।

अथ परिसर्पः—

दृष्टनष्टानुसर्पणम् ॥ ३२ ॥

परिसर्पः,

यथा येणोसंहारे—“ कञ्चुकी—योऽयमुद्यतेषु बलवत्सु, अथवा किं
बलवन्तु वासुदेवसहायेष्वरिष्वद्याप्यन्तःपुरसुरमनुभवति, इदमपरमयथातर्थं
स्वामिनः—

आशस्त्रमहणादुष्टुण्ठपरजोस्तस्यापि जेता मुने-

स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः ।

प्रौढानेकबनुर्धरारिविजयश्चान्तस्य चैकाकिनो

धालस्यायमरातिद्वनचनुपः प्रीतोऽभिमन्योर्वैवात् ॥”

इत्यनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याभिमन्युवधान्नष्टस्य बलवतां पाण्डवानां
वासुदेवसहायानां सङ्ग्रामलक्षणविन्दुर्वोजप्रयत्नान्वयेन कञ्चुकिमुत्प्रेन
वीजानुसर्पणं परिसर्प इति ।

यथा च रत्नावल्यां सारिकावचनचित्रदर्शनाभ्यां सागरिकानुरागवी-
जस्य दृष्टनष्टस्य “ कासौ कासौ ” इत्यादिना वत्सराजेनानुसरणात्प-
रिसर्प इति ।

अथ विधूतम्—

विधूतं स्यादरतिः,

यथा रत्नावल्याम्—“सागरिका—संहि अहिं मे संतापो वाधेदि ।
(मुमद्गता दीर्घिकातो नाल्नीदलानि मृणालिनाश्चानीयास्या अङ्गे ददाति) साग-
रिका—(तानि क्षिपन्ती) संहि ! अवणेहि एदाहं किं अमारणे अ-
त्ताणं आयासेसि णं भणामि—

दृष्टस्य नष्टस्य च बीजस्य यदनुसर्पणम्—अनुसरणमन्वेगणमिति यावत् तत्
परिमर्शः ॥ ३२ ॥

१ ‘ तानि । अधिकं मे संतापो वाधते । ’ इति पृष्ठाया. २ ‘ सति । अपन-
दैतानि स्मिन्कारण आत्माननायामयति । ननु भणामि—

दुःसहजणानुरागो लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा ।

पिअसाहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवर एकम् ॥ ”

इत्यनेन सागरिकाया बीजान्वयेन शीतोपचारविधूननाद्विधूतम् ।

यथा च वेणीसंहारे भानुमत्या दुःस्वप्नदर्शनेन दुर्योधनस्यानिष्टशङ्कया पाण्डवविजयशङ्कया वा रतेर्विधूननमिति ।

अथ शमः—

तच्छमः शमः ।

तस्या अरतेरपशमः शमो यथा रत्नावल्याम्—“राजा—वयस्य ! अनया लिखितोऽहमिति यत्सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत्कथं न पश्यामि । ” इति प्रक्रमे ॥ सागरिका—(आत्मगतम् ।) हिअं ! समस्सस मणोरहोवि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो । ” इति किञ्चिदस्त्वुपशमाच्छम इति ।

अथ नर्म—

परिहासवचो नर्म,

यथा रत्नावल्याम्—“ सुसङ्गता—सहि ! अस्स कए तुमं आअदा सो अअं पुरदो चिट्ठदि । सागरिका—(वाद्यम्) सुसङ्गदे ! कस्स कए अहं आअदा । सुसङ्गता—अइ अप्पसंकिदे ! णं चित्तफलअस्स ता गेण्ह एदम् । ” इत्यनेन बीजान्वितं परिहासवचनं नर्म ।

यथा च वेणीसंहारे—“ (दुर्योधनभेटीहस्तादर्षपानमादाय देव्याः सम-
पर्पति पुनः) भानुमति—(अर्ष दत्त्वा) हँला ! उवणेहि मे कुसुमाई
जाव अव्वरणं पि देवाणं सव्वरिअं णिवत्तेमि । (हस्तौ प्रसारयति दुर्योधनः
पुष्पाप्युपनयति भानुमत्यास्तत्पर्शनात्कम्पाया हस्ताप्युष्पाणि पतन्ति) ” इत्य-
नेन नर्मणा दुःस्वप्नदर्शनोपशमार्थं देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्धाटना-
त्परिहासस्य प्रतिमुखाङ्गत्वं युक्तमिति ।

ननु नर्मणः कथं सन्ध्यङ्गत्व स्यादित्याशङ्क्याह—नर्मणिति, दु स्वप्नदर्शनस्यो-

दुर्लभजनानुरागो लज्जा शुर्वी परवस आत्मा ।

प्रियसखि विपम प्रेम मरण शरणं केवलमेकम् ॥ इति च्छाया ।

१ ‘ हृदय ! समाश्रयिहि मनोरथोऽपि ॥ एतावती भूमिं न गतः । ’ इति च्छाया. २ ‘ सखि ! यस्य कृते तन्मागता सोऽयं पुरतरितवृत्ति ’ इति च्छाया. ३ ‘ सुसङ्गते । कस्य कृतेऽद्भुतागता । ’ इति च्छाया. ४ अयि आत्मस-
‘हिते ! ननु चित्रफलकस्य । तद्गृहाणेतत् । ’ इति च्छाया. ५ ‘ हला उपनय मे
कुसुमानि यावदपरेषामपि देवाना तपस्यां निवर्तयामि । ’ इति च्छाया ।

अय नर्मद्युतिः—

धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥ ३३ ॥

यथा रत्नावल्याम्—“ सुसङ्गता—संहि अदिणिदुरा दाणिं सि
तुपम् जा एवं पि भट्टिणा हत्यावलम्बिदा कोर्वं ण मुञ्चसि । सागारिका—
(सम्भूभङ्गमीयदिहस्य) सुसङ्गदे ! दाणिं पि ण विरमसि । ” इत्यनेना-
नुरागरीजोद्घाटनान्वयेन धृतिर्नर्मजा द्युतिरिति दर्शितमिति ॥

अथ प्रगमनम्—

उत्तरा वाक्प्रगमनम्,

यथा रत्नावल्याम्—“ विदूषकः—भो बभस्स ! दिट्ठिआ बट्ठसे ।
राजा—(सकौतुभम्) वयस्य ! किमेतत् । विदूषकः—भो ! एदं कलु
तं जं मए भणिदं तुमं एव्व आलिहिदो को अण्णो कुमुमाउहव्वदेसेण
णिण्णवीमदि । ” इत्यादिना

“ परिच्युतस्तत्त्वानुसन्धमध्यात्किं शोपमायासि मृणालहार ।

न सूक्ष्मतन्तोरपि सावकस्य तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात् ॥ ”
इत्यनेन राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्योन्यवचनेनोत्तरोत्तरानुराग-
रीजोद्घाटनाग्रगमनमिति ।

अथ निरोधः—

हितरोधो निरोधनम् ।

यथा रत्नावल्याम्—“ राजा—धिह्मूर्त !

प्राप्ता कथमपि देवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा ।

रत्नावलीव फान्ता मम हस्ताङ्गशिता भवता ॥ ”

पशमार्थं या देयतापूर्वा सद्भिप्रसारिणापि नर्मणा नीवस्पोद्धाटनात् तादृश-
नर्मणः परिहासरूपस्य सन्ध्यङ्गत्वं युक्तमेवेत्यन्यथः । विन्यमिदं वाक्यम् ।

तत्रा—नर्मजन्या धृतिरेव द्युतिः—नर्मद्युतिः ॥ ३३ ॥

उच्येति—भीजानुगतमुणरोत्तरवचने प्रगमनं प्रगण्य वेत्यर्थः ।

१ सदि ! अतिनिष्ठुरदानीमसि ॥ येषमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोपं न
मुगधि ।’ इति पद्याया । २ ‘ मुगधते । इदानीमपि न विरमसि ।’ इति पद्याया ।
३ ‘ प्रपयणम् ’ इत्यपि पाठः । ४ ‘ भो वयस्य ! दिट्ठया कर्त्तसि ।’ इति पद्याया ।
५ ‘ भो ! एदं कलु तं जं मए भणिदं तुमं एव्व आलिहिदो को अण्णो कुमुमाउ-
हव्वदेसेण निण्णवीमदि ।’ इति पद्याया ।

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपाहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूच-
केन विदूषकवचसा निरोधानिरोधनमिति ।

अथ पर्युपासनम्—

पर्युपास्तिरनुनयः,

यथा रत्नावल्याम्—“ राजा—

प्रसीदिति श्रूयामिदमसति कोपे न घटते

वरिष्याम्येवं भो पुनरिति भवेदभ्युपगम ।

न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा

किमेतस्मिन्वक्तु क्षममिति न वेद्यि प्रियतमे ॥ ”

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायकयोर्दर्शनात्कृपिताया वासवदत्ताया अनुनयनं
नायकयोरनुरागोद्घाटान्वयेन पर्युपासनमिति ।

अथ पुष्पम्—

पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ३४ ॥

यथा रत्नावल्याम्—“ (राजा सागरिका हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति)
विदूषक—भो ! एसा अपुब्बा सिरी सए समासादिदा । राजा—
वयस्य ! सत्यम्

श्रीरेषा पाणिरप्यस्या. पारिजातस्य पल्लव ।

धुतोऽन्यथा स्रवत्येव स्वेदच्छद्यामृतद्रवम् ॥ ”

इत्यनेन नायकयो साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटना-
द्युष्पम् ।

अथोपन्यास —

उपन्यासस्तु सोपायम्,

उद्घाट = प्राकट्यम् । अन्वय = सवन्ध । अत्र ‘उद्घाटनेन’ इतिपुत्रं प्रति-
भाति । विशेष्यत् = प्रशसावत् प्रशसाप्रतिपादकमितियावत् ।

श्री रेपेतिवाक्येन सागरिकाया श्रीत्वेन वर्णनादिद वाक्य विशेषवदिति पुष्पा-
ङ्गघटितम् ॥ ३४ ॥

“उपन्यासस्तु सोपायम्” इत्यत्र पूर्वोक्तम् “वाक्यम्” इतिपदमनुवर्तितव्यं

१ ‘ भो ! एसापूर्वा श्रीत्त्वया समासादिता ।’ इति वृत्त्या. २ ‘प्रसादन-
मुपन्यास’ इति पाठान्तरम् ।

यथा रत्नावल्याम्—“ सुसङ्गता—भेदा ! अलं सङ्गाए मए वि म-
ट्टिणो पसाएण कील्लिदं एव्व ता किं कण्णामअणेण अदो वि मे गरुओ
पसाओ जं कीस तए अहं एत्थ आलिहिअ त्ति कुविआ मे पिअसही
सागरिआ ता पसादीअदु । ” इत्यनेन सुसङ्गतावचसा सागरिका मया
लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन वीजोद्रे-
दादुपन्यास इति ।

अथ वक्ष्यम्—

वज्रं प्रत्यक्षनिपुरम् ।

यथा रत्नावल्याम्—“ वासवदत्ता—(फलक निर्दिश्य) अज्जउत्त !
एसावि जा तुइ समीपे एदं किं यत्तन्तअस्स विण्णाणम् । ” पुनः “ अ-
ज्जउत्त ! ममावि एदं चित्तकम्म पेस्सन्तीए सीसवेअणा समुप्पण्णा । ”
इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्रेदनाद्यत्यक्षनिपुरा-
निधानं वज्रमिति ।

अथ वर्णसंहारः—

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ॥ ३५ ॥

यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

“ परिपदिममूर्षाणामेव वृद्धो युवाजिन्

सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः ।

अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः

प्रभुरपि जनज्ञानामद्बुद्धो याचक्यास्ते ॥ ”

यथा च सोपायम्—हेतुप्रदर्शकम् (सहेतुम्) वाक्यमुपन्यास इत्यर्थो यथाश्रो-
दाहणे प्रसादनहेतुत्वेन सागरिकाप्रतिकृतित्वेन सागरिकाकोषे निर्दिष्ट इति ।

“ वज्रं प्रत्यक्षनिपुरम् ” इत्यत्रापि “ वाक्यम् ” इत्यनुवर्तिनस्य तथा च प्रत्यक्ष-
निपुरं वाक्यं वज्रमित्यर्थः ।

चातुर्वर्ण्येति—चतुर्णां वर्णानामुपगमनं समागम एवर्थाभाव इति यावत् ।

१ ‘ गर्त ! अलं शङ्का मयापि भर्तुं प्रसादेन कीदृशमेव तर्हि वर्णभरणेन
अतोपि मे पुनः प्रणतो यत्तस्य त्ववाहयान्निधितेति प्रपिता मे श्रियमस्ती
सागरिका तत्रागच्छताम् । ” इति श्रुत्या । २ ‘ आर्यपुत्र ! एतापि यः तपः समीपे
एतान् एवन्तस्य विद्वान् । ” इति श्रुत्या । ३ आर्यपुत्र ! ममाप्येतद्विषयं
पश्यन्त्याः क्षीरवेदना समुपगमाः । ” इति श्रुत्या ।

इत्यनेन ऋषिश्त्रियाभात्यादीनां संगतानां वर्णानां वचसा रामविजयाशंसिनः परशुरामदुर्णयस्याद्रोहयाच्याद्द्वारेणोद्भेदनाद्वर्णसंहार इति ।

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुत्तसंध्युपक्षिप्तविन्दुलक्षणावान्तरवीजमहार्धाजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि । एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रशमचञ्चोपन्यासपुष्पाणां प्राधान्यम्, इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति ।

अथ गर्भसंधिमाह—

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेपणं मुहुः ।

द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिर्संभवः ॥ ३६ ॥

प्रतिमुत्तसंधौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोत्रोद्भिन्नस्य बीजस्य सविज्ञोद्भेदपूर्वकः सान्तरायो लाभः पुनर्विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनश्च तत्सैवान्वेपणं चारंवारं सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसंधिरिति । तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्तायाः पताकायाः अनिष्टमं दर्शयति— ‘पताका स्यान्न वा’ इत्यनेन । प्राप्तिर्संभवस्तु स्यादेवेति दर्शयति— ‘स्यात्’ इति । यथा रत्नावल्या तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासनदत्तालक्षणापायेन तद्वेषपरिमहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिकाप्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासनदत्तया विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनरपायनिवारणोपायान्वेषणम् “नास्ति देवीप्रसादनं मुस्तत्रान्य उपायः” इत्यनेन दर्शितमिति ।

स च द्वादशाङ्गो भवति । तान्युद्दिशति—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।

संग्रहश्चानुमानं च तौटकाधिवले तथा ॥ ३७ ॥

उद्देशसंभ्रमाक्षेपाः, लक्षणं च प्रणीयते— ।

अद्रोहस्य श्लोपशान्तेर्याच्या=याचनम् ॥ ३५ ॥

गर्भसन्धिं व्युत्पादयति—गर्भ इति । गर्भ=गर्भसन्धिः । उन्नतानामर्यप्रवृत्तीनामवस्थानां च यथाक्रमं सयोगेन सन्धयो जायन्ते इत्युचत्वाद् अर्थप्रवृत्तेः पताकायाः अवस्थारूपप्राप्त्याशायाश्च सयोगेन गर्भसन्धिना भविष्यमपि गर्भसन्धौ पताकायाः सत्त्वनिष्मो नास्तीत्याह—“पताका स्यान्न वा” इति । प्राप्तिर्संभव=प्राप्त्याशा तथा त्वत्स्य भवितव्यमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

स=गर्भसन्धिः । तानि=द्वद्वाङ्गानि ॥ ३७ ॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

अभूताहरणं छद्मः

यथा रत्नावल्याम्—“ साधु रे अमञ्च वसन्तञ्च साधु अदिसइदो तण्
अमञ्चो जोगन्धराअणो इमाए संधिविगहचिन्ताए । ” इत्यादिना प्रवे-
शनेन गृहीतवासवदत्तावेपायाः सागारिकाया वत्सराजाभिसरणं छद्म
विद्रूपकसुसङ्गताकृतकाञ्चनमालानुवादद्वारेण दर्शितमित्यभूताहरणम् ।
अयं मार्गः—

मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥ ३८ ॥

यथा रत्नावल्याम्—“ विद्रूपकः—दिट्ठिआ वट्टसि समीहिदम्भभि-
काए कज्जसिद्धीए । राजा—वयस्य कुशलं प्रियायाः । विद्रूपकः—अइ-
रेण सअं जेब्ब पेक्खिअ जाणिहिसि । राजा—दर्शनमपि भविष्यति ।
विद्रूपकः—(सगर्वम्) क्कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदविहप्फादि-
बुद्धिविहवो अहं अमञ्चो । राजा—तथापि कथमिति ओतुमिच्छामि ।
विद्रूपकः—(कर्णे कथयति) ऐब्बम् । ” इत्यनेन यथा विद्रूपकेण साग-
रिकासमागमः सूचितः तथैव निश्चितरूपो राज्ञो निवेदित इति तत्त्वार्थ-
कथनान्मार्ग इति ।

अयं रूपम्—

रूपं वितर्कवद्वाक्यम्,

यथा रत्नावल्याम्—“ राजा—अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहि-
णीसमागमपरिभाविनोऽभिनवं जनं प्रति पश्यपातस्त्वयाहि—
प्रणयविदादां दृष्टिं वक्ते ददाति न शङ्किता
घटयानि धनं कण्ठाश्लेषे रसाञ्ज पयोधरौ ।

उन्नेति—यच्छब्दना स्यादितं भवति तच्छब्देत्युच्यते तस्यात्राभूताहरण-
मिति संज्ञा ॥ ३८ ॥

१ ‘साधु रे अमञ्च वसन्तञ्च साधु अतिशयितस्त्वयामात्यो जोगन्धरायणोऽनया
संधिविगहचिन्तया ।’ इति श्रुत्या. २ ‘दिट्ठिआ वट्टसि समीहिताभ्यधिकया
कार्यसिद्धया ।’ इति श्रुत्या. ३ अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यमि ।’ इति श्रुत्या.
४ ‘कर्णे न भविष्यति यस्य त उपहसितवृत्त्यतिबुद्धिविमणोद्धममात्यः ।’ इति
श्रुत्या. ५ ‘ऐब्बम्’ इति श्रुत्या ।

वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो

रमयतितरां संकेतस्या तथापि हि कामिनी ॥

कथं चिरयति वसन्तकः किं नु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्याः ॥
इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीशङ्कायाश्च वितर्का-
दूपमिति ॥

अथोदाहरणम्—

सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

यथा रत्नावल्याम्—“विदूषकः—(सहर्यम्) ही ही भोः, कौसर्म्भी-
रज्जलाहेणावि ण तादिसो वअस्सस्स परितोसो असि यादिसो मम सआ-
सादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सदि ति तक्केमि ।” इत्यनेन रत्नावलीप्राप्ति-
वार्तापि कौशार्म्भीराज्यलाभादतिरिच्यन् इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृतिरिति ।

अथ क्रमः—

क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिः,

यथा रत्नावल्याम्—“ राजा—उपनयप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे
किमिदमत्यर्थमुत्तान्यति चेत्, अथवा—

तीर्थः स्मरसंतापो न तथादौ पार्थते ययासन्ने ।

तपति प्राकृषि सुनराभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥

विदूषकः—(आरुर्ण्य) भोदि सागरिण ! एसो पिअवअस्सो तुमं जेव
उदिसिअ उक्कण्ठाणिअमरं मन्तेदि । ता निवेदेमि ॥ तुहागमणम् ।”
इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भ्रान्तसागरिकाप्रा-
प्तिरिति क्रमः ।

“सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः” इत्यत्र “वाक्यम्” इतिप्रदमनुवर्तित्वां तथा च
सोत्कर्षं वाक्यमुदाहृतिः—उदाहरणमित्यर्थः ।

क्रम इति—संचिन्त्यमानस्वार्थस्याप्ति—प्रप्तिः क्रम इत्युच्यते । भ्रान्त इति—
तत्र वासनयनैव सागरिकात्वेन गृहीतेति भ्रान्तस्वोदयनस्य भ्रान्त्या वा
सागरिकाप्तिः ।

१ ‘ही ही भोः कौशार्म्भीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोऽ
आसीन् पारतो मम उक्कण्ठातिव्यवचनं धृत्वा भविष्यतीति तर्कयामि ।’ इति
व्याख्या. २ ‘भवति सागरिके । एव प्रियवयस्यस्वामेकोदितोऽक्कण्ठादिमरं मन्त्रयति
तन्निवेदयामि तस्मै तवागमनम्’ इति व्याख्या ।

अथ क्रमान्तरं मतभेदेन—

भावज्ञानमयापरे ॥ ३९ ॥

यथा रत्नाख्याम्—“राजा—(उपसृत) प्रिये सागरिके !

शीतांशुर्मुग्धमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ

रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।

इत्याह्लादकरासिलाङ्घ्रि रभसान्निःशङ्कमालिङ्गय मा-

मह्नानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येहोहि निर्वापय ॥”

इत्यादिना “इह तदप्यस्त्येव विन्वाधरे ” इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सरा-
जभावस्य हासत्वात्क्रमान्तरमिति ।

अथ संग्रहः—

संग्रहः सामदानोक्तिः,

यथा रत्नाख्याम्—“साधु वयस्य ! साधु इदं ते पारितोषिकं क-
टकं ददामि ।” इत्याभ्यां सामदानाभ्यां विदूषकस्य सागरिकासमागम-
कारिणः संग्रहात्संग्रह इति ।

अथानुमानम्—

अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा ।

यथा रत्नाख्याम्—“राजा—धिह् मूर्ख ! त्वत्कृत एवायमापति-
तोऽसामान्यमर्थः । कुतः—

समारुढा प्रीतिः प्रणयदुमानात्प्रतिदिनं

व्यर्थाकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं रसलु मया ।

प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ

प्रष्टव्य प्रेम्णः स्तलितमविषहं हि भवति ॥

विदूषक—भो वयस्य ! वासवदत्ता किं कइस्सदि त्ति न जानामि
सागरिआ उण दुष्करं जीविस्सदि त्ति त्थेमि ।” इत्यत्र प्रष्टव्यप्रेमस्तल-
नेन सागरिकानुरागजन्येन वासवदत्ताया मरणाभ्यूहनमनुमानमिति ॥

मत्तान्तरेण क्रममाह—भावज्ञानेति, “क्रमान्तरम्” इत्यत्र ‘क्रमः’ इत्येव पाठो
मुक्तः ॥ ३९ ॥

अभ्यूह-तर्कः । अनुमा=अनुमानम् । लिङ्गत-स्तुत्या । अथ राजकुतो
वासवदत्तामरणाम्यूह, विदूषककृतञ्च सागरिकामरणाम्यूह इति विवेकः ।

१ ‘भो वयस्य ! वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि सागरिका पुनर्दुष्करं
जीविष्यतीति तर्कयामि ।’ इति पद्याया ।

अथाधिरलम्—

अधिरलमभिसंधिः,

यथा रत्नावल्याम्—“काञ्चनमाला—मेट्टिणि ! इअं सा चित्तसालिआ ! ता वसन्तजस्स सण्णं करेमि (छोटिना ददाति) ” इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्या सागरिकासुसङ्गतावेपाभ्या राजविदूषभूयोरभिसंधीयमानत्वादधिरलमिति ।

अथ तोटकम्—

संरब्धं तोटकं वचः ॥ ४० ॥

यथा रत्नावल्याम्—“वासवदत्ता—(उपसृत्य) अज्जउत्त ! जुत्तमिणं सरिस्समिणम् । (पुन सरोपम्) अज्जउत्त उट्टेहि किं अज्जवि आहि—आहिए सेवादुक्खमणुभरीअदि, काञ्चनमाले ! एतेण ज्जेव पासेन वन्धिअ आणेहि एणं दुट्ठवत्तणम् एदं पि दुट्ठवत्तणमं अग्गदो करेहि ।” इत्यनेन वासवदत्तासंरब्धवचसा सागरिकासमागमान्तरायभूतेनाऽनियतप्राप्तिकारणं तोटकमुक्तम् ।

यथा च वेणीसहारे—

“प्रयत्नपरिवोचित. स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम् ”

इत्यादिना

“धृतायुधो यात्रदहं तावदन्यै निमायुधै ।”

इत्यन्तेनान्योन्यं कर्णाश्रत्याग्नोः संरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितं तोटकमिति ।

ग्रन्थान्तरे तु—

तोटकस्यान्यथाभावं द्रुवतेऽधिरलं बुधाः ।

अभिसन्धि = सगमः । अभिसंधीयमानत्वात् = सगम्यमानत्वात्, सागरिकारिपथकाभिप्रायप्राप्तित्वाद्वा ।

सरब्धम् = नोपयुक्तम् ।

अनियतप्राप्तिरूपम्—नियतप्राप्त्यभावप्रयोनकम् ॥ ४० ॥

ग्रन्थान्तरोक्तमधिरलस्य तोटकस्य च रक्षणमाह—तोटकस्येति, अन्यथाभावे

१ ‘मर्ति ! इयं सा चित्रशालिका तद्वसन्तवस्य सदा करोमि ।’ इति च्छाया.
२ ‘आरंभुम् ! कुनमिदं सत्तमिदम् । आरंभुम् उत्तिट्ठि मिद्विषयविभिनत्वा से-
सादु चरन्नुभूयते, काञ्चनमाले ! एतेनैव पासेन बद्धाननेन दुट्ठवात्तणम् एतामपि
दुट्ठकन्ययामप्रत. बुद्ध ।’ इति च्छाया ।

यथा रत्नावल्याम्—“राजा—देवि एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं विधापयामि—

आताम्रतामपनयामि विलक्ष एव

लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना ।

कोपोपरागजनितां तु मुरेन्दुविम्बे

हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात् ॥”

संरन्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् ॥ ४१ ॥

यथा रत्नावल्याम्—“राजा—प्रिये वासवदत्ते ! प्रसीद प्रसीद । वासवदत्ता—(अभ्रणि धारयन्ती) अज्जउत्त ! मा एवं भण अण्णस-
ङ्कन्ताइं खु एवाइं अक्खराइं त्ति ।”

यथा च वेणीसंहारे—“राजा—अये सुन्दरक ! कश्चित्कुशलमङ्ग-
राजस्य । पुच्छपः—कुसलं सरिरमेत्तकेण । राजा—किं तस्य किरी-
दिना हता धौरेयाः, क्षत्तः साराथिः, भग्नो वा रथः । पुच्छपः—देवे !
ण भग्गो रहो भग्गो से मणोरहो । राजा—(सप्तमम्) कयम् ।”
इत्येवमादिना संरन्धवचसा तोटकमिति ।

अयेद्वेगः—

उद्वेगोऽरिकृता भीतिः,

यथा रत्नावल्याम्—“सागरिका—(आत्मगतम्) केह् अकिदुप्पणे-
हिं अत्तणो इच्छाप मरिडं पि ण पारीअदि ।” इत्यनेन वासवदत्तातः
सागरिकाया भयमित्युद्वेगः । यो हि यस्यापकारी स तस्यादिः ।

यथा च वेणीसंहारे—“सूतः—(भुत्वा समयम्) कयमासन्न एवासौ
कौरवराजपुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसंज्ञश्च महाराज,
वैरित्यं तथा च संरन्धवचनस्य तोटकत्वे विनयवचनस्याधिबलत्वं यत्कथ्यमित्यर्थः
अत्र संरन्धवचनम्=उद्विग्वचनम् ॥ ४१ ॥

ननु सागरिकाया वासवदत्ता कथमरिः स्यादित्याशङ्क्याह—यो ह्येति । वासव-
दत्ता च सागरिकाया अन्वारिणी—वत्सराजसमागमविप्रकारिणीत्यात् ।

१ आर्यपुत्र मेव भण । अन्यसकान्तानि खल्वेतान्यक्षराणीति ।” इति च्छाया ।

२ ‘कुसलं शरीरमात्रकेण ।’ इति च्छाया । ३ ‘देव न भग्नो रथः । भग्नोऽस्य भग्नो-
रथः ।’ इति च्छाया । ४ ‘अयमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न पार्यते ।’
इति च्छाया ।

भवतु दूरमपहरामि स्यन्दनम् । कदाचिदयमनार्यो दुःशासन इवास्मिन्न-
प्यनार्यमाचरिष्यति ।” इत्यरिकृता भीतिरुद्भवा ।

अथ संभ्रमः—

शङ्कनशासौ च संभ्रमः ।

यथा राजावल्याम्—“विदूषकः—(पश्यन्) कां उण एसा । (संभ्र-
मन्) कथं देवी वासवदत्ता अत्ताणं वावादेदि । राजा—(संभ्रममुपसर्पन्)
कासौ कासौ ।” इत्यनेन वासवदत्ताबुद्धिगृहीतायाः सागरिकाया मर-
णशङ्कया संभ्रम इति ।

यथा च वेणीसंहारे—“ (नेपथ्ये कलकलः) अश्वत्थामा—(संभ्रमन्)
मातुल ! मातुल ! कष्टम् । एष भ्रातुः प्रतिशमद्गभीरुः किरीटी समं
शरवर्षैर्दुर्योधनगर्धेयायभिद्रवति । सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमे-
न ।” इति शङ्का । तथा “ (प्रविश्य संभ्रान्तः सप्रहारः) सूतः—त्रायतां
त्रायतां कुमारः ।” इति त्रासः । इत्येताभ्या त्रासशङ्काभ्यां दुःशासन-
द्रोणवधसूचकाभ्यां पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितः संभ्रम इति ।

अयाक्षेपः—

गर्भवीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥ ४२ ॥

यथा राजावल्याम्—“राजा—वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं
पश्यामि ।” पुनः क्रमान्तरे “सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्पत्त्याशीभूताः
स्मः ।” पुनः “तत्किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामि ।” इत्यनेन
देवीप्रसादायत्ता सागरिकासमागमासिद्धिरिति गर्भवीजोद्भेदादाक्षेपः ।

यथा च वेणीसंहारे—“सुन्दरकः—अहंवा किमेत्य देव्यं उजाल-
हामि तस्स क्खु एदं णिच्चच्छिद्विदुरवअणवीअस्स परिमुदपिदामह-
हिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारुढमूलस्स कूडविससाहिणो पथा-

शङ्केति—कचिच्छङ्कायाः कचित् त्रासस्य कचिच्च द्वयोरेव संभ्रमत्वं विशेषम् ।

त्रासः=भयम् ॥ ४२ ॥

१ ‘का पुनरेषा ! कथं देवी वासवदत्तात्मानं व्यापादयति । इति च्छाया ।

२ ‘अथवा किमत्र दैवमुपायमाप्तिं तस्य कल्हेतज्जिर्मस्तिविदुरवचनवीजस्य
परिभूतपितामहादितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनाद्वृद्धमूलस्य कूटविपशखिनो-
पाभ्यालीवेशप्रहणजुमुसस्य फलं परिणमति ।’ इति च्छाया ।

लीकेसगाहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि ।” इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुख-
तयाक्षिप्यत इत्याक्षेपः ।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्रात्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयानि ।
एषां च मध्येऽभूताहरणमार्गतोदकाधिवलाश्लेषाणां प्राधान्यम् इतरेषां
यथासंभवं प्रयोग इति साङ्गो गर्भसंघिरुक्तः ।

अथावमर्शः—

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।

गर्भनिर्भिन्नबीजार्यः सौज्वमर्श इति स्मृतः ॥ ४३ ॥

अवमर्शान्तमवमर्शः पर्यालोचनं तच्च क्रोधेन वा व्यसनाद्वा विलोभ-
नेन वा ‘ भवितव्यमनेनार्थेन ’ इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा
गर्भसंध्युद्भिन्नबीजार्यसंबन्धो विमर्शोऽवमर्शः, यथा रत्नावल्यां चतुर्थे-
ऽङ्केऽभिद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसक्त्या निरपायरत्नावलीप्राप्त्यवसा-
यात्मा विमर्शो दर्शितः । यथा च वेणीसंहारे दुर्योधनरुधिराक्तभीमसे-
नागमपर्यन्तः—

“ तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निवृत्ते

कर्णाशीविषमोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम् ।

भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये

सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥”

इत्यत्र “स्वल्पावशेषे जये” इत्यादिभिर्विजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमहा-
रथवधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शनं दर्शितमित्यवमर्शसंघिः ।

तस्याङ्गसंग्रहमाह—

तत्रापवादसंफेटी विद्रवद्रवशक्तयः ।

श्रुतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥ ४४ ॥

अवमर्शमन्त्रि व्युत्पादयति—क्रोधेनेति ।

फलप्राप्त्यवसायः=फलप्राप्तिविरयकाप्यवसाय आत्मा स्वरूपम् यस्य ज्ञा ।
अप्यवसायो निश्चयः । गर्भसंघातुद्भिन्नस्य बीजव्यवधार्यस्य संबन्धो यत्र सः ।
विजयप्रत्यर्थी=शत्रुः ॥ ४३ ॥

तत्र=अवमर्शसंबन्धौ । त्रयोदशाङ्गानीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

दोषप्रख्यापवादः स्यात्,

यथा रत्नावल्याम्—“सुसङ्गता—सा खलु तवस्तिर्णी भट्टिणीए
उज्जइणि णीअदित्ति पवादं करिअ उवत्थिदे अद्धरत्ते ण जाणीअदि
कहिंपि णीदेत्ति । विदूषकः—(सोद्रेगम्) अंदिणिग्धिणं क्खु कदं
देवीए । ” पुनः—“ मो वअस्य ! मा खु अण्णथा संभावोहि सा खु
देवीए उज्जइणी पेसिदा अदो अप्पिअं त्ति कहिदम् । राजा—अहो
निरनुरोधा मयि देवी । ” इत्यनेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनादपवादः ।

यथा च वेणीसंहारे—“युधिष्ठिर—पाञ्चालक ! कश्चिदासादिता
तस्य दुरात्मनः कौरवापसदस्य पदवी ? पाञ्चालकः—न केवलं पदवी
॥ एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः । ” इति
दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति ।

अथ संफेटः—

संफेटो रोपभाषणम् ।

यथा वेणीसंहारे—“ भोः कौरवराज ! कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना,
मैवं विषादं कृथाः—पर्याप्ताः पाण्डवाः समरायाऽहम्ऽसहाय इति ।

पञ्चाना मन्यसेऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन ।

वैशितस्यान्तदशस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः ॥

इत्थं श्रुत्वाऽसूयात्मिका निक्षिप्य कुमारयोर्दृष्टिमुत्तमान्धारतराष्ट्र—

कर्णदुःशासनबधात्तुल्यावेव युषां मम ।

अप्रियोऽपि प्रियो योर्दुः त्वमेव प्रियसाहसः ॥

इत्युत्थाय च परस्परमोघाभिक्षेपपरुषवाकलहप्रस्तावितघोरसङ्ग्रामौ—”

निरनुरोधा—प्रतिकूला । प्रतिकूलत्वमेव वासवदत्तादोषः ।

इत्यमिति—इत्य श्रुत्वा कुमारयोस्सूयात्मिका दृष्टि निक्षिप्य धार्तराष्ट्र उत्तवा-
नित्यन्वयः ।

१ “ सा खलु तपस्विनी भट्टिन्योऽभयिनी नीयत इति प्रवाद कृत्वोपरिपतेश्वरान्ते
न शयते कुत्रापि नीतेति । ” इति च्छाया. “ अतिनिर्घृणं खलु कृत देव्या । ” इति
च्छाया. ३ भो वयस्य ! मा खञ्जन्यथा समावय सा खलु देव्योऽभयिन्या प्रेयिता
अतोऽप्रियमिति बभितम् ” इति च्छाया ।

इत्यनेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यरोपसंभाषणाद्विजयव्रीजान्वयेन सं-
पेष्ट इति ।

अथ विद्रवः—

विद्रवो वधवन्धादिः,

यथा छलितरामे—

“येनावृत्य मुरगानि साम पठतामत्यन्तमायासितं
यास्ये येन हताक्षसूत्रबलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।
युष्माकं हृदयं स एष विशिष्यैरापूरितांसस्थलो
मूर्च्छाघोरतमःप्रवेशविवशो वद्धा लवो नीयते ॥”

यथा च रत्नावल्याम्—

“हर्म्याणां हेमगृह्णथियमित्र शिखरैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमामग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभिषापः ।
कुर्वन्क्रोडामहीध्रे सजलजलधरश्यामलं धूमपातै-

रेष द्रोपार्तयोपिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥”

इत्यादि, पुनः । “घासवदत्ता—अज्जउत्त ! ण क्खु अहं अत्तणो कार-
णादो भणामि एसा मए णिग्घिणहिअआए संजदा सागरिआ विग्रज्जदि ।”
इत्यनेन सागरिकावधवन्धामिभिर्विद्रव इति ।

अथ द्रवः—

द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥ ४५ ॥

यथोत्तरचरिते—

“वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते
सुन्दरीदमनेऽप्यरण्यशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीण्यवुक्तोमुग्रान्यपि पदान्यासन्तरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥”

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कारं कृतवानिति द्रवः ।

यथा च वेणीसंहारे—“युधिष्ठिरः—भगवन् कृष्णप्रज सुभद्राभ्रातः!

“द्रवो गुरुतिरस्कृतिः” इत्यत्र तिरस्कार उपात्तमादिरूपोऽपि विज्ञेयो यथा
भीमलभद्रविरये ॥ ४५ ॥

१ “आर्यपुत्र ! न सत्पदमात्मनः कारणाद्भणामि एसा मया निर्गुणहृदयया
संवद्रा सागरिआ विग्रज्जे ।” इति श्रद्धाया ।

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रुढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्थार्जुनेन ।

तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः

कोऽयं पन्था यदसि विगुणो मन्दमाम्ये मयीत्थम् ॥ ”

इत्यादिना धलभद्रं गुरुं युधिष्ठिरस्त्विदस्मृतवानिति द्रवः ।

अथ शक्तिः—

विरोधशमनं शक्तिः,

यथा राज्ञावल्याम्—“ राजा—

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वक्षसा चित्तानुवृत्त्याधिकं

वैलक्ष्येण परेण यादपत्तनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।

प्रत्यासत्तिमुपागता नहि तथा देवी रुदत्या यथा

प्रक्षाल्यैव तथैव धाम्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥ ”

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधियासवदत्ताकोपोपशमनाच्छक्तिः ।

यथा चोत्तरचरिते लवः प्राह—

“विरोधो विभ्रान्तः प्रसरति रसो निर्धृतिघ्न-

रतदौद्धत्य कापि प्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।

इदित्यस्मिन्दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा

महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥ ”

अथ श्रुतिः—

तर्जनोद्वेजने श्रुतिः ।

यथा वेणीसंहारे—“ एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलनिहु-
ञ्जपूरिताशातिरिक्तमुद्गान्तसलिलचरशतसंकुलं त्रासोद्धतनक्रमाहमालो-
ब्ध सरःसलिलं भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाभिहितम्—

जन्मेन्दोर्मले कुले व्यपदिशस्यचापि धत्से गदां

मां दुःशासनकोष्णशोणितसुरार्क्षवं रिपुं भापसे ।

दर्पान्धो मधुकैटभद्विपि हरावप्युद्धतं चेष्टसे

मन्त्रासानृपशो विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥ ”

इत्यादिना “त्यक्त्वोत्थितः सरभसम्” इत्यनेन दुर्वचनजलावलोडनाभ्यां
दुर्योधनतर्जनोद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्यां
भीमस्य श्रुतिरुक्ता ।

अथ प्रसङ्गः—

गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः,

यथा रत्नावल्याम्—“ देव यासौ सिंहलेधरेण स्वदुहिता रत्नावली नामायुष्मती वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वप्रार्थिता सती प्रतिदत्ता । ” इत्यनेन रत्नावल्या लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रसङ्गाद्गुरुकीर्तनेन प्रसङ्गः ।

तथा मृच्छकटिकायाम्—“ खाण्डालकः—एष सागलदत्तस्तु सुभो अज्जविणभदत्तस्तु णत्तु चालुदत्तो वावादिदुं वज्जट्ठाणं णीअदि एवेण किल गणिआ वसन्तसेणा सुवण्णलोभेण वावादिद, सि । ” चारुदत्तः—

ममशक्तपरिपूरं गोत्रमुज्जासितं यत्

सदसि निविडचैत्यप्रस्त्रयोपैः पुरस्तात् ।

मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-

स्तदसदृशमनुप्यैर्गुप्यते घोषणायाम् ॥ ”

इत्यनेन चारुदत्तववाभ्युदयानुकूलं प्रसङ्गाद्गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्गः ।

अथ छलनम्—

छलनं चावमाननम् ॥ ४६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—राजा—अहो निरनुरोधा मयि देवी । ” इत्यनेन वासवदत्तयेष्टासंपादनाद्वत्सराजस्यावमाननाच्छलनम् । यथा च रामाभ्युदये सीतायाः वरित्यागेनाऽवमाननाच्छलनमिति ।

“गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः” इत्यत्र ‘प्रसङ्गो गुरुकीर्तनम्’ इत्येष पाठो युक्तो मृत्ता-
नुस्यार्यम् । गुरुणा मातापित्रादीनाम् ।

“अहो निरनुरोधा मयि देवि” इत्यत्र वत्सराजेन स्वविषयकं वासवदत्ताक-
र्तृत्वमवमाननमुक्तम्, “इष्टाऽसंपादनात्” इत्यस्य ‘पूर्वोक्तसागरिकाया अन्यत्र प्रेय-
सेनाऽनिष्टसंपादनादित्यर्थः—इष्टासंपादनमात्रेण छलनादेरसमत्वान् ॥ ४६ ॥

१ “एष सागरदत्तस्य सुत आर्यविनयदत्तस्य नत्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं कथ्यमानं नीयते एतेन किल गणिआ वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति । ” इति चट्टाया ।

अथ व्यवसाय —

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः,

यथा रत्नाक्त्याम्—“ ऐन्द्रजालिकः—

किं धरणीं मिमङ्क्षो आकासे महिहरो जले जलगो ।

मञ्जुहम्मि पओसो दाविञ्चउ देहि आणत्तिम् ॥

अथवा किं बहुणा जम्पिण—

मञ्ज पइण्णा एत्ता भणामि हिमएण ज महसि द्दुम् ।

त ते दावेमि फुडं गुरुणो मन्तप्पहावेण ॥ ”

इत्यनेनैन्द्रजालिको मिथ्यामिस्रभ्रमोत्थापनेन कत्तराजस्य हृदयस्थ-
सारिकादर्शनानुगूला स्वशक्तिमाविष्कृतवान् ।

यथा च वेणीसहारे—

“ नून तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञामद्गभीरुणा ।

दध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणे क्षमः ॥ ”

इत्यनेन युधिष्ठिर रत्नदण्डशक्तिमाविष्करोति ।

अथ विरोधनाम्—

संरन्धानां विरोधनम् ।

यथा वेणीसहारे—“ राजा—रे रे मरुत्तनय किमेवं वृद्धस्य राज्ञः
पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म आघसे । अपि च—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा

प्रत्यक्ष भूपतीना मम भुवनपतेराक्षया शृतदासी ।

“संरन्धानां विरोधनम्” इत्यत्र “स्वशक्त्युक्तिः” इत्यनुवर्तितव्यं तथा च
संरन्धानां बद्धवैराण्या स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमित्यर्थः । विरोधाभावे स्वशक्त्युक्तिस्तु
व्यवसाय एव ।

१ ‘ किं धरण्या मृग्यरु आकाशे महीधरो जले जलग्नः ।

मभ्यादे प्रदोयो दर्शयता देहाशसिम् ॥

अथवा किं बहुना जल्पितेन ।

मम प्रतिज्ञेया भणामि हृदयेन यद्वाञ्छसि द्रुम् ।

तत्ते दर्शयामि सु- गुरोर्मन्त्रप्रभावेण ॥ ” इति उच्यते ।

२ ‘ संरम्भोक्तिः ’ इत्यपि पाठः ।

अस्मिन्वैरानुबन्धे तव किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
वाहोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥

(भीमः क्रोधं नाटयति) अर्जुनः—आर्य प्रसीद किमत्र क्रोधेन
अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥

भीमः—अरे भरतकुलकलङ्क !

अद्यैव किं न विसृजेयमहं भवन्तं
दुःशासनानुगमनाय कदुप्रलापिन ।
विप्रं गुरु न कुरुतो यदि मत्कराम-
निर्भिद्यमानरणितास्थिनि ते शरीरे ॥

अन्यथ मूढ !

शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि
भ्रातुर्वभूःस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि ।
आसीदेतत्तव धुनृपतेः कारणं जीवितस्य
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥

राजा—दुरात्मन् भरतकुलपसद पाण्डवपदो ! नाहं भवानिदं विक-
त्यनाप्रगल्भः । किं तु—

द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं वान्धवास्त्वां रणाङ्गने ।
मद्रदाभिन्नवक्त्रोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥”

इत्यादिना संरब्धयोर्भामिदुर्योधनयोः स्वशक्त्युत्तिर्विरोधनमिति ।

अथ प्ररोचना—

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ॥ ४७ ॥

यथा वेणीसंहारे—“पाञ्चालकः—अहं च देवेन चक्रपाणिना ॥

इत्युपक्रम्य ॥ कृतं संदेहेन—

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णाऽत्यन्तचिरोद्भिते च कवरीबन्धे करोतु क्षणम् ।

संरब्धयोः=बद्धवैरयोः ।

सिदेति—अस्यचिन् सिद्धपुरुषस्य भाविनः कार्यस्य ‘मिदमेवेदम्’ इत्यादि-
रूपेण सिद्धत्वेनामन्त्रणात्=कथनाद् यद् भाविकार्यस्य सिद्धत्वेन प्रदर्शनं सा
प्ररोचनेत्यर्थः ॥ ४७ ॥

रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रदुमोच्छेदिनि

क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याज्ञौ कुतः संशयः ॥”

इत्यादिना “मद्गुलानि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिरः” इत्यन्तेन द्रौपदी-
केशसंयमनयुधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोऽपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररो-
चनेति ।

अथ विचलनम्—

विकल्थना विचलनम्,

यथा वेणीसंहारे—“भीमः—तात ! अन्य !

सकरिपुत्रयाशा यत्र वद्धा सुतैस्ते

सृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।

रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य

प्रणमति पित्रौ वां भयमः पाण्डवोऽयम् ॥

अपि च तात !

चूर्णिताशेषमौरव्यः क्षीयो दुःशासनाऽसृजा ।

भङ्गा सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाभ्यति ॥”

इत्यन्तेन विजयनीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद्विचलनमिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—“यौगन्धरायणः—

देव्या मद्रूचनाद्ययाभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा

सा देवस्य कलग्रसंपदनया दुःखं मया स्थापिता ।

तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः

सत्यं दर्शयितुं तयापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया ॥”

इत्यन्तेनान्यपरेणापि यौगन्धरायणेन “मया जगत्स्वामित्वानुगन्धी क-
न्यालामो वत्सराजस्य कृतः ।” इति स्वगुणानुकीर्तनाद्विचलनमिति ।

अथादानम्—

आदानं कार्यसंग्रहः ।

यथा वेणीसंहारे—“भीमः—ननु भोः समन्तपञ्चरसंपारिणः !

विरत्यना=आत्मश्लाघा । विचलनम्=च्युतिः । वेणीसंहारसंज्ञा अम-

श्लाघामादानमित्यर्थः ।

कार्यसंग्रहः=कार्यसंग्रहः ।

रक्षो नाहं न भूतं रिपुरुधिरजलाप्राविताङ्गः प्रकामं
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।

भो भो राजन्यवीराः समरशिरिशिरसादग्धशेषाः कृतं
वस्त्रासेनानेन लीनैर्हृतकरितुरगान्तार्हितैरास्यते यत् ॥”

इत्यनेन समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादादानम् ।

यथा च रत्नावल्याम्—“सागरिका—(दिशोऽवलोक्य) दिट्ठिआ
समन्तादो पज्जलिदो भज्जं हुअवहो अज्ज करिस्सदि दुक्खावसाणम् ॥”
इत्यनेनान्यपरेणापि दुःखावसानकार्यस्य संग्रहादादानम् । यथा च—
“जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः ” इति दर्शितमेवम् । इत्येतानि त्रयोदशा-
वमर्शाङ्गानि तत्रैतेषामपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानि प्रधानानीति ।

अथ निर्वहणसंधिः—

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥ ४८ ॥

ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

यथा वेणीसंहारे—“कञ्जुकी—(उपसृत्य सहर्षम्) महाराज !
वर्धसे वर्धसे अयं रत्तु कुमारभीमसेन सुयोधनक्षतजारणीकृतसकल-
शरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः । ” इत्यादिना द्वौपदीकेशसंयमनादिमुखसंख्यादि-
बीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थतया योजनम् ।

यथा च रत्नावल्यां सागरिकारत्नावलीवसुभूतिवाभ्रव्यादीनामर्थानां
मुखसंख्यादिषु प्रकीर्णानां वत्सराजैरुकार्यार्थत्वम् “वसुभूतिः—(साग-
रिका निर्वर्ण्योपवार्य) वाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या । ” इत्यादिना दर्शि-
तमिति निर्वहणसंधिः ।

अथ तदङ्गानि—

संधिर्विवोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४९ ॥

संगृहीतत्वात्—उपसंगृहीतत्वात् ।

निर्वहणसन्धि व्युत्पादयति—बीजवन्त इत्यादिना । बीजवन्त=बीजमंबद्धा
मुखाद्यर्था=मुखसंख्यादिषु निधिमन्त्रा अर्था यत्रैकार्थ्यम्=एकार्थ्यमाधनत्वमुपनीयन्ते
स निर्वहणसन्धिर्हित्यन्वयः ॥ ४८ ॥

१ ‘दिष्टया समन्तात्प्रज्वलितो भगवान्हुतवहोऽत्र करिष्यति दुःखावनानम् ।
इति च्छाया ।

प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूढनाः ।

पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

संधिर्वीजोपगमनम्,

यथा रत्नावल्याम्—“वसुभूतिः—वाध्रव्य ! सुमदशीयं राजपुत्र्या ।

धाम्नव्यः—ममाप्येवमेव प्रतिभाति ।” इत्यनेन नायिकावीजोपगमा-
त्संधिरिति ।

यथा च वेणीसंहारे—“भीमः—भवति यज्ञोद्देशंभवे ! स्मरति
भवती यत्तन्मयोक्तम्—

चञ्चुजभ्रमितचण्डगदामिघात-

संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।

स्त्यानावयश्छधनशोणितशोणपाणि-

रुत्तमयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥”

इत्यनेन मुखोपक्षिप्तस्य वीजभ्य पुनरुपगमात्संधिरिति ।

अयं विरोधः—

विवोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा रत्नावल्याम्—“वसुभूतिः—(निरूप्य) देव कुत इयं कन्यका ?

राजा—देवी जानाति । वासवदत्ता—अञ्जउत्त ! एसा सागरादो पावि-
अत्ति भणिअ अमच्च जोगन्धराभणेण मम हत्थे णिहिदा अदो जेव सा-
गरिअत्ति सहावीअदि । राजा—(आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यम्ता,
कथमसौ ममानिवेश करिष्यति ।” इत्यनेन रत्नावल्यालभणकार्यान्वेषणा-
द्विवोधः ।

यथा च वेणीसंहारे—“भीमः—मुखतु मुखतु मामार्यः क्षणमेदम् ।

युधिष्ठिरः—किमपरमवशिष्टम् ? भीमः—सुमहदवशिष्टम्, संयमयामि
तावदनेन दुःशासनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चान्या दुःशामनावदृष्टं
केदाहस्तम् । युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान् . अनुभवतु तपस्विनीं वेणीसं-

वीजस्पोपगमनम्—उद्धावनं मन्थिनामकमहम् । उपगमान्—उद्धासनम् ।

मार्गणम्—अन्वेषणम् ।

१ “आर्यपुत्र ! एसा सागराद्यासेति भणित्वा नन्दबोधपरायणं मम हस्ते
निहिता भव एव सागरिकेति दृश्यते ।” इति १८८५ ।

हारम् ।” इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेष्ट्याद्विधोऽव इति ।

अथ ग्रथनम्—

ग्रथनं तदुपक्षेपः,

यथा रत्नावल्याम्—“यौगन्धरायणः—देव ! श्रम्यतां यदेवस्यानिवेद्य मयैतत्कृतम् ।” इत्यनेन यत्नराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद्व्यनम् ।

यथा च वेणीसंहारे—“भीमः—पाञ्चालि न खलु मयि जीरति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना । तिष्ठतु तिष्ठतु । स्वयमेवाहं संहारामि ।” इत्यनेन त्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षेपाद्व्यनम् ।

अथ निर्णयः—

अनुभूताख्या तु निर्णयः ॥ ५१ ॥

यथा रत्नावल्याम्—“यौगन्धरायणः—(कृताञ्जलिः) देव श्रूयताम्— इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धदेवेनोपदिष्टा—योऽस्याः पार्श्वे प्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति तद्यत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानाऽपि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तस्तेदं परिहरता यदा न दत्ता तदा लावणिके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः ।” इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णयः ।

यथा च वेणीसंहारे—“भीमः—देव देव अजातशत्रो काद्यापि दुर्योधनदूतकः मया हि तस्य दुरात्मनः—

भूमौ क्षित्वा शरीरं निहितमिदमसूक्ष्मचन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या ।

भूत्या मिश्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणामौ
नामैकं यद्वर्षापि क्षितिप तदधुना धातेराष्टस्य शेषम् ॥”

इत्यनेन स्वानुभूतार्थक्यनान्निर्णय इति ।

अथ परिभाषणम्—

परिभाषा मियो जल्पः,

यथा रत्नावल्याम्—“रत्नावली—(आत्मगतम्) केआवराहा
तत् तस्य कार्यस्योपक्षेप उपसहार ।

अनुभूताख्येति—अनुभूतस्य विचारितस्य संपादितस्य वा कार्यस्याख्या कथन-
मुपवर्णनमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

१ “कृतापराधां देव्या न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम् ।” इति च्छाया ।

देवीए ण सफुणोमि मुहं दंसिदुम् । वासवदत्ता—(सामं पुनर्वाह प्रसार्य)
 एहि अयि निष्ठुरे ! इदानीं पि बन्धुसिणेहं दसेही । (अपवार्य) अज्ज-
 उत्त ! लज्जामि क्खु अहं इमिणा णिससत्तणेण ता लहुं अवणेहि से
 बन्धणम् । राजा—यथाह देवी । (बन्धनमपनयति) वासवदत्ता—
 (वमुभूति निर्दिश्य) अज्ज ! अमच्चजोगन्धरायणेण दुज्जणीक्कदाहि जेण
 जानन्तेण वि णाचक्खिदम् ।” इत्यनेनान्योन्यवचनात्पग्निभाषणम् ।

यथा च वेणीसंहारे—“ भीमः—रूपा येनासि गङ्गा सदसि नृप-
 शुना तेन दुःशासनेन ।” इत्यादिना “कासौ भानुमती योपहसति पाण्ड-
 वदारान् ।” इत्यन्तेन भाषणात्परिभाषणम् ।

अथ प्रसादः—

प्रसादः पर्युपासनम् ।

यथा रत्नावल्याम्—“ देव ! ह्रम्यताम् ।” इत्यादि दर्शितम् ।

यथा च वेणीसंहारे—“ भीमः—(द्रौपदीशुपसृत्य) देवि पाश्चाल-
 राजतनये ! दिष्टया वर्षसे रिपुशुलक्षयेन ।” इत्यनेन द्रौपद्या भीमसेने-
 नाराधितत्वात्प्रसाद इति ।

अथानन्दः—

आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः,

यथा रत्नावल्याम्—“ राजा—यथाह देवी (रत्नावलीं पृच्छति) ”

यथा च वेणीसंहारे—“ द्रौपदी—णोव विमुमरिंदक्षि एदं वावारं
 णाभस्स प्पसादेण पुणो सिक्खिस्सम् (केशान्बध्नाति) ” इत्याभ्या प्रार्थि-
 तरत्नावलीप्राप्तिकेअसंयमनयोर्वत्सराजद्रौपदीभ्या प्राप्तत्वादानन्दः ।

अथ समयः—

समयो दुःस्वनिर्गमः ॥ ५२ ॥

यथा रत्नावल्याम्—“ वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्ग्य) स्तम-
 पर्युपासनम्—प्रसादनम् ॥ ५२ ॥

१ “ एहि अयि निष्ठुरे ! इदानीमपि बन्धुमेह दर्शय । आर्यपुत्र ! लगे
 खत्वहमनेन नृशसत्वेन तत्पक्षपनयास्या बन्धनम् ।” इति च्छाया. २ “ आर्य !
 अमात्ययौगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि येन जानतापि नाचक्षितम् ।” इति च्छाया.
 ३ “ ताव ! विस्मृतास्म्येत न्यापार नाणस्य प्रसादेन पुन शिक्षिष्यामि ।”
 इति च्छाया. ४ “ समाधिसिद्धि समाधिसिद्धि भगिनिवै ।” इति च्छाया ।

स्तस-समस्तस बहिणिप ।” इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःस्व-
निर्गमात्समयः ।

यथा च वेणीसंहारे—“ भगवन् कुतस्तस्य विजयादन्यद् यस्य भग-
वान्पुराणपुपः स्वयमेव नारायणी मङ्गलान्यागास्ते ।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसंभूतमूर्ति

गुणिनमुदयनाशस्वानहेतुं प्रजानाम् ।

अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वापि न त्वां

भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ॥”

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति ।

अथ कृतिः—

कृतिर्लब्धार्थशमनम्,

यथा रत्नावल्याम्—“ राज्ञा—को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते ।
यास्यदत्ता—अज्जडत्त ! दूरे से मादुउलं ता तथा करेसु जथा धन्धु-
अणं न सुगरेदि । ” इत्यन्योन्यवचसा लब्धायां रत्नावल्यां राज्ञः मुस्लि-
ष्टय उपशमनात्कृतिरिति ।

यथा च वेणीसंहारे—“कृष्णः—एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकि”
इत्यादिना ॥ अभिषेकमारब्धवन्तास्तिष्ठति ।” इत्यनेन (इत्यन्तेन) प्राप्त-
राज्यस्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः ।

अथ भाषणम्—

मानाद्यास्तिश्च भाषणम् ।

लब्धार्थस्योपशमनमपि कृतिर्यथा प्रदर्शितरत्नावल्याम्, लब्धार्थस्य स्थिरीक-
रणमपि कृतिर्यथा प्रदर्शितवेणीसंहारे ।

मुस्लिष्टये=मस्त्रेणेण—राज्ञः=वत्सराजस्य (राजभगवेतायाः) रत्नावलीविषयक-
स्नेहवृत्तेः सपादनेन लब्धाया रत्नावल्या उपशमनात् कृतिः, लब्धार्थेन शमनं
लब्धार्थशमनमित्यर्थः ॥ लब्धया रत्नावल्या राज्ञ उपशमनं तदप्युक्तवचने रत्ना-
वल्या स्नेहवृत्तिसंपादनेनैव तादृशस्नेहवृत्तिभपादनस्य राजानुकूलत्वादित्यर्थः ।
किं वा राज्ञः रत्नावल्या मुस्लिष्टये=सयोजनाय यदुक्तवचनैरुपशमनं कृते तस्मा-
दुपशमनादत्र कृतिरुच्यते इत्यर्थः ।

१ “ आर्यपुत्र दोष्ट्या मातृकुलं तत्तथा कुरुष्व यथा चन्नुजन न स्मरति ।”
इति चलाया ।

यथा रत्नावल्याम्—“राजा—अतःपरमपि प्रियमस्ति ?

यातो विक्रमबाहुरात्मसमता प्राप्तेयमुर्वीतले

सार सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतु प्रिया ।

देवी प्रीतियुपागता च भगिनीलभाजिता कोशला

किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषमे यस्मै करोमि स्नहाम् ॥”

इत्यनेन कामार्थमानादिलाभाद्भाषणमिति ।

अथ पूर्वभावोपगूहने—

कार्यदृष्ट्यद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ॥ ५३ ॥

कार्यदर्शन पूर्वभाव यथा रत्नावल्याम्—“यौगन्धरायण —एव
विज्ञाय भगिन्या सप्रति करणीये देवी प्रमाणम् । वासवदत्ता—कुड
ज्जेव किं न भणोसि षडिवाणहि से रअणमाल सि ।” इत्यनेन ‘वत्सरा-
जाय रत्नावली दीयताम्’ इति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रवि-
ष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात्पूर्वभाव इति ।

अद्भुतप्राप्तिरूपगूहनं यथा वेणीसंहारे—“(नेपथ्ये) महासमरानल-
दग्धशेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय ।

बोधान्धैर्यस्य मोक्षालक्षतनरपतिभि पाण्डुपुत्रै कृतानि

प्रत्याश मुक्तेऽशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्तपुराणि ।

कृष्णाया केशपाश कुपितयमसखो धूमकेतु कुरूणा

दिष्टा बद्ध प्रजाना विरमतु निधन स्वस्ति राजन्यकेभ्यः ॥

युधिष्ठिर—देवि । एष ते भूर्भजाना सहारोऽभिनन्दितो नभस्तलवा-
रिणा सिद्धजनेन ।” इत्येतेनाद्भुतार्थप्राप्तिरूपगूहनमिति । लब्धार्थशमना-
त्कृतिरपि भवति ।

अथ काव्यसंहार —

वराप्तिः काव्यसंहारः,

यथा—“किं ते भूय प्रियमुपकरोमि ।” इत्यनेन काव्यार्थसहरणा-
त्काव्यसंहार इति ।

अथ प्रशस्ति —

प्रशस्तिः शुभशंसनम् ।

अद्भुताथप्राप्तिरिति—अद्भुतार्थस्य—नेपाद्यादे प्राप्तिरित्यर्थे ॥ ५३ ॥

१ एवमेव किं न भणमि प्रतिपादयाम्ये रत्नमात्रमिति । इति षष्ठाया ।

यथा वेणीसंहारे—“प्रीततरश्चेद्भवान् तदिदमेवमस्तु—

अकृपणमतिः कामं जीव्याञ्जनः पुरुषायुषं

भवतु भगवद्भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तमे ।

कलितमुवनो विद्वद्वन्धुर्गुणेपु विशेषवित्

मततसुसृती भूयाद्रूपः प्रसाधितमण्डलः ॥”

इति शुभशंसनात्प्रशस्तिः । इत्येतानि चतुर्दश निर्वहणाङ्गानि । एवं चतुः-
पद्यङ्गसमन्विताः पञ्चसंध्यः प्रतिपादिताः ।

पदप्रकारं चाङ्गानां प्रयोजनमित्याह—

उक्ताङ्गानां चतुःपष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम् ॥ ५४ ॥

कानि पुनस्तानि पदप्रयोजनानि—

इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम् ।

रागः प्रयोगस्याश्रयं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥ ५५ ॥

विवक्षितार्थनिबन्धनं गोप्यार्थगोपनं प्रकाश्यार्थप्रकाशनमभिनेयराग-
वृद्धिश्चमत्कारित्वं च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गैः पदप्रयोजनानि
संपाद्यन्त इति ।

पुनर्वस्तुविभागमाह—

द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।

सूच्यमेव भवेत्किंचिदृश्यश्रव्यमपापरम् ॥ ५६ ॥

कीदृक्सूच्यं कीदृग्दृश्यश्रव्यमित्याह—

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः ।

दृश्यस्तु मयुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥ ५७ ॥

उत्तेति—उक्तानां सव्यङ्गानां चतुःपष्टिः सख्या, षण्णामङ्गानां षोढा प्रयो-
जनम् किं वा चतुःपष्टिसख्यानामुक्ताङ्गानामेषां च षोढा प्रयोजनमित्यन्वयः ॥ ५४ ॥

इष्टेति—इष्टस्य=विवक्षितस्यार्थस्य रचना—निबन्धनम्, प्रयोगस्य=अभिनेय-
स्येति विषयत्वं पठ्यर्थस्तथा च नाटकादिप्रयोगविषयका द्रष्टृणां रागवृद्धिः, प्री-
तिवृद्धिरित्यर्थः । प्रयोगस्याश्रयम्=चमत्कारित्वम् । वृत्तान्तस्य=इतिवृत्तस्याऽनु-
पक्षयः=विस्तर इत्यन्वयः ॥ ५५ ॥

दृश्य इति—मधुर=चित्रापकर्षी, उदात्त=उदार, रसभावनिरन्तरः=रसभाव-
पूर्णश्च वस्तुविस्तरो दृश्यः ॥ ५७ ॥

सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह—

अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।

विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥ ५८ ॥

तत्र विष्कम्भ—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।

संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥ ५९ ॥

अतीताना भाविना च कथावयवानां ह्यापको मध्यमेन मध्यमाभ्या
चा पात्राभ्या प्रयोजितो विष्कम्भक इति ।

त द्विविध — शुद्ध संकीर्णश्चेत्याह—

एकानेककृतः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यमैः ।

एकेन द्वाभ्या वा मध्यमपात्राभ्या शुद्धो भवति, मध्यमाधमपात्रैर्यु-
गापत्रयोजित संकीर्ण इति ।

अथ प्रवेशक —

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥ ६० ॥

प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ।

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थह्यापकत्वप्रतिदिश्यते, अनुदात्तोक्त्या नीचेन
नीचैर्वा पात्रै प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवाद, अङ्कद्वयस्यान्त इति
प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ।

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ॥ ६१ ॥

नेपथ्यपात्रेणार्थसूचनं चूलिका यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्यादौ—

अयेति—अर्थस्य—इतिवृत्तस्थोपक्षेपके—सूच्यैर्विष्कम्भकादिभि पञ्चभि एष्य
चस्तु प्रतिपादयेत्—सूचयेदिति ॥ ५८ ॥

संक्षेपार्थ—संक्षेपोऽर्थस्य—सूच्येतिवृत्तस्य यस्मिन् स, संक्षेपेण चस्तुसूचक
इत्यर्थ ॥ ५९ ॥

अनुदात्तोक्त्या—प्राकृतभाषया ॥ ६० ॥ अपवाद—बाध । अन्त—मध्मे ।
शेषार्थस्य—अप्रदर्शनीयस्य वृत्तस्य ।

अन्त इति—जवनिकान्त स्थिते पात्रेयाऽर्थस्य सूचना सा चूलिका ॥ ६१ ॥

“(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः (ततः प्रविशति तपोधना) ” इति नेपथ्य-
पात्रेण वासन्तिकयाऽऽत्रेयासूचनाच्चूलिका ।

यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—“(नेपथ्ये) भो भो वैमा-
निकाः ! प्रवर्त्यन्तां प्रवर्त्यन्तां मङ्गलानि—

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान्कौशिकमुनिः

सहस्रांशोर्विभे जगति विजयि क्षत्रमधुना ।

विनेता क्षणरेजगद्भयदानप्रवधरः

शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥”

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्द्वैवैः ‘रामेण परशुरामो जितः’ इति सूचनाच्चूलिका ।

अथाङ्कास्यम्—

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।

अङ्कान्त एव पात्रमङ्कान्तपात्रं तेन विशिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचनं
तद्वद्देशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—
“(प्रविश्य) सुमन्त्रः—भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भयतः सभार्गवानाह-
यतः । इतरे—क भगवन्तौ । सुमन्त्रः—महाराजदशरथम्यान्तिके ।
इतरे—तदनुरोधात्तत्रैव गच्छामः ” इत्यङ्कसमाप्तौ “(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा
वसिष्ठविश्वामित्ररघुगमाः) इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण
ज्ञातानन्दजनककथार्थविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यामिति ।

अथाङ्कावतारः—

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ॥ ६२ ॥

एभिः संसूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचिश्चेत् पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थवयसाङ्कान्तरमापतति
प्रवेशकविक्रमकादिशून्यं मोऽङ्कावतारः यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमा-

छिन्नस्य=विशिष्टस्याङ्कस्य योऽर्थमनूनानात्, तद्वद्देशेन=अङ्कास्यरङ्गेनोत्तराङ्का-
वतारो भवतीत्यङ्कस्याऽऽस्यमित्यङ्कास्यमित्युच्यते इत्यर्थः ।

अङ्कावतारं दृश्यति—अङ्कावतार इति, दृश्यं दृश्यम् । शिष्यभक्तप्रवेशक-
चूडिकाऽङ्कावतारनाममात्र एव वस्तुतोऽङ्कावतार इत्यपि वस्तु शक्यते, तथापि-
माङ्ककारभगवन् पूर्वाङ्कान्तारणेन केनचित् पात्रेण कर्तव्यमिति विशेषः, सर्व
योजनावच्छिन्नमिति विशेषः । आरम्भे=आरम्भे ।

झान्ते—विदूषकः— तेन हि दुवेवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदो-
वअरणं करिअ तत्थभवदो दूदं विसज्जेथ अयवा मुदङ्गसदो जेव णं
उत्थावयिस्सदि ।” इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि
प्रथमाङ्कप्रकान्तपात्रसंक्रान्तिदर्शनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति प्रथमा-
ङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्यावतरणादङ्कावतार इति ।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह—

नाट्यधर्मपेक्षयैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेयते ॥ ६३ ॥

केन प्रकारेण त्रैधं तदाह—

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ।

तत्र ।

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ॥ ६४ ॥

सर्वश्राव्यं यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते । यत्तु सर्वस्याश्राव्यं तत्स्वगत-
मिति शब्दाभिधेयम् ।

नियतश्राव्यमाह—

द्विधान्यन्नाट्यधर्मरूपं जनान्तमपवारितम् ।

अन्यत्तु=नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन ।

प्रथमाङ्केति—मालविकाग्निमित्रस्य प्रथमाङ्के प्रकान्तयोः=उक्तयोः प्रविष्टयोर्वा
पात्रयोर्हृदयगतगदासयोः संक्रान्तेः शिष्यशिक्षाक्रमस्य दर्शनं द्वितीयाङ्कारम्भे सर्वा-
ण्येव पात्राण्यारभन्ते इत्यन्वयः । एतच्च तत्र प्रथमाङ्कान्तनिर्दिष्टे “क्लिष्टा क्रिया
वस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्त्यस्य विशेषयुक्ता” इति पद्ये द्रष्टव्यम् ॥ ६२ ॥

नाट्यधर्मम्=नाट्यशास्त्रमर्यादा । यस्य वस्तुनः सर्वेभ्यः प्रदर्शनेन प्रयोजनं न
भवति रसव्याधातो वा भवति तत् सर्वेभ्यो न प्रदर्शनीयमित्यादिर्नाट्यधर्मो
विशेषः ॥ ६३ ॥

सर्वेषामिति—किंचित् सर्वेषां श्राव्यम्, किंचिन्नियतस्य नाम वस्यचिदेव
श्राव्यम्, किंचिदश्राव्यमित्येवं त्रैविध्यमित्यन्वयः ॥ ६४ ॥

द्विधेति—नाट्यधर्मेति न जनान्तिकापवारितयोः सज्ञा—उक्तप्रकाशादीनामपि
नाट्यधर्मत्वात् किं तु परिचायकमात्रम् ॥ ६५ ॥

१ ‘तेन हि द्वावपि देश्याः त्रेखागेहं गत्वा सगीतकोपकरणं शृन्वा तत्रभवतो
दूतं वितर्जयतम्, अथवा मृदङ्गशब्द एवैवमुत्थापयिष्यति ।’ इति ध्याया ।

तत्र जनान्तिकमाह—

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥ ६५ ॥

अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ।

यस्य न श्राव्यं तस्यान्तर ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलं वक्रानामिकुत्रिपताकालक्षणं
करं कृत्वान्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति ।

अथापवारितम्—

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम् ॥ ६६ ॥

परावृत्त्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति ।

नाट्यधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह—

किं ब्रवीध्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।

श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ ६७ ॥

स्पष्टार्थः ।

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पादीनि कैश्चिदुदाहृतानि तेषाम-
भारतीयत्वान्नाममालाप्रसिद्धानां केषांचिद्देशभाषात्मकत्वान्नाट्यधर्मत्वा-
भावाद्दृष्टं नोक्तमित्युपसंहरति—

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं

रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च ।

आसूत्रपेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या-

चित्रां कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चैः ॥ ६८ ॥

इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ।

वस्तुविभेदजातम्—वस्तु-वर्णनीयं तस्य विभेदजातं नाम भेदः ।
रामायणादि बृहत्कथा च गुणादयनिर्मितां विभाव्य आलोच्य । तदनु-
वृत्तम् । नेत्रिति—नेता वक्ष्यमाणलक्षणः रसाश्च तेषामानुगुण्याचित्राम्=
चित्ररूपां कथाम्-आख्यायिकाम् । चारुणि यानि वचांसि तेषां प्रपञ्चै-

परावृत्त्य=श्रुतमन्यदिशं कृत्वा ॥ ६६ ॥

किमिति—उदेतदाकाशभाषितोदाहरणदर्शनेन स्पष्टं भविष्यति ॥ ६७ ॥

तेषाम्=नायकरय रमानां चानुगुण्यात्=आनुरूप्यात् । स्पष्टमन्यत्=सर्वम् ॥ ६८ ॥

॥ इति सावलोकादशरूपकप्रथमप्रकाशस्य प्रमाख्याप्याख्या समाप्ता ॥

विस्तरैरासूत्रयेदनुप्रथयेत् । तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्—

“ चाणक्यनाम्ना तेनाय शरुटालगृहे रहः ।

कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः ॥

योगानन्दयशःशेषे पूर्वतन्नुसुतस्ततः ।

चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा ॥”

इति बृहत्कथायां सूचितम्, श्रीरामायणोक्तं रामकथादि क्षेयम् ॥

॥ इति श्रीविष्णुमूर्धनोर्धनिरुत्स्य कृतौ दशरूपकलोके

प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ॥

अथ

द्वितीयः प्रकाशः ।

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेद प्र-
तिपाद्यते—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।

रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥ १ ॥

बुद्धयुत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसपन्वितः ।

शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचञ्चुश्च धार्मिकः ॥ २ ॥

नेता नायको विनयादिगुणसपन्नो भवतीति ।

तत्र विनीतो यथा वीरचरिते—

“यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे विद्यातपोत्रतनिधौ तपता वरिष्ठे ।
दैवात्कृतस्त्वयि मया विनयापचारस्तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥”

मधुर-प्रियदर्शन यथा तत्रैव—

“राम राम नयनाभिरामतामाशयस्य सदृशीं समुद्रहन् ।

अप्रतर्क्यगुणरामणीयक सर्वथैव हृदयंगमोऽसि मे ॥”

त्यागी=सर्वस्वदायकः यथा—

“त्यच कर्णं शिविर्मासं जीवं जीमूतवाहन ।

ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ॥”

दक्ष-क्षिप्रकारी यथा वीरचरिते—

“स्कूर्मद्वृक्षसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यप्रतो

रामस्य त्रिपुरान्तकृदिविपदा तेजोभिरिद्ध घनु ।

शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-

स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुण कृष्ट च भ्रमं च तन् ॥”

प्रियवद-प्रियमापी यथा तत्रैव—

“उत्पत्तिर्जमदम्रित स भगवान्देव पिनाकी गुरु-

र्वीर्यं यत्तु न तद्विरा पथि ननु व्यक्त हि तत्कर्मभि ।

द्वितीये प्रकाशे प्रथमं नायकसामान्यलक्षणमाह—नेतेति ।

सर्वस्वदायक—यथायोग्यं सर्वस्वदायक सर्वस्वदानमभ्यर्थ इत्यर्थः, न तु सर्वदा
सर्वस्मै सर्वस्वदायक ।

त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः

सत्यप्रहृतपोनिर्धेर्मगवतः किं वा न लोकोत्तरम् ॥”

उत्तलोकः यथा तत्रैव—

“अद्यास्त्राता यस्तवायं तनूज-

सेनाद्यैः स्वामिनस्ते प्रसादात् ।

राजन्यन्तो राममद्रेण राज्ञा

लब्धक्षेमाः पूर्णकामाश्चरामः ॥”

एवं शौचादिव्यप्युदाहार्यम् । तत्र शौचं नाम मनोर्नैर्मत्यादिना कामा-
यनभिभूतत्वम्, यथा रघौ—

“का त्वं शुभे कस्य परिग्रहे वा किं वो मदभ्यागमकारणं ते ।

आचक्ष्व मत्वा वक्षिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुक्तप्रवृत्तिः ॥”

वाग्मी यथा हनुमन्नाटके—

“वाहोर्वलं न विदितं न च कार्मुकस्य

त्रैयम्बकस्य तनिमा सत एव दोषः ।

तद्यापलं परशुराम मम क्षमस्य

हिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरुणाम् ॥”

रुद्रवंशो यथा—

“ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसंतानमह्नी-

मालाग्लानस्तत्ररुमधुषा जहिरे गङ्गपुत्राः ।

रामस्तेषामचरमभरताढकाकालरात्रि-

प्रत्यूपोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्दः ॥”

निर्रो बाह्मनःत्रित्याभिरचञ्चलः यथा वीरचरिते—

“प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमान् ।

न स्त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रमहमहप्रतम् ॥”

रत्तो लोरो यस्मिन् स रत्तलोः । वाग्मी—वाक्पटुः ।

राम इत्यत्र—

यसन्ति हि प्रेणि गुणा न वस्तुनि न मन्वतां हंस । इति गतेऽन्वया ।

टपहृदो प्रेमगुणो समारदो ब्रूचिद् यथा दास्यथो यथार्थाः ॥

इति मे विभावनीयम् ।

यथा वा भर्तृहरिशतके—

“प्रारभ्यते न खलु विन्नभयेन नीचैः

प्रारभ्य विन्नविहता विरमन्ति मथ्याः ।

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः

प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ॥”

युवा प्रसिद्धः । बुद्धिर्ज्ञानम् । गृहीतविशेषकरी तु प्रज्ञा यया माल-
विकाग्निमित्रे—

“यद्यत्प्रयोगविषये भाविरुमुपदिश्यते मया तस्यै ।

तत्तद्विशेषकरणान् प्रत्युपदिशतीत्य मे वाला ॥”

स्पष्टमन्यत् ।

नेतृविशेषानाह—

भेदैश्वर्यार्था ललितशान्तोदात्तोद्वैतैरयम् ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ॥ ३ ॥

सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहितः अत एव गीतादिकलाविष्टो
भोगप्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वाच्च सुकुमारसत्त्वाचारो मृदुरिति ललितः
यथा रत्नावल्याम्—

“राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भगः

सम्यन्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।

प्रद्योतस्य मुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं

कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥”

अथ शान्तः—

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।

भाषिकम्=भावाश्रयं नृत्यमित्यर्थः । तस्यै=मातृविकायै ॥ २ ॥

भेदैरिति=अयम्=नायको ललितशान्तोदात्तोद्वैतैर्भेदैश्वर्यार्था मचतीत्यन्वयः ।

ललितादिपदेभ्यः पूर्वं धीरपद सञ्योग्यं तेन धीरललितो धीरशान्तो धीरो-
दात्तो धीरोद्वैत इति च सञ्ज्ञा जायते ।

अप्राप्तस्य प्राप्त्यर्थोऽङ्गः, प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेमः । अत एव=चिन्तारहितत्वादेव ।

सुकुमारो=कोमलो चित्तव्यवहारो यस्य स सुकुमारसत्त्वाचारः ॥ ३ ॥

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणि-
कसचिवादीनां प्रवरणनेतृणामुपलक्षणम्, विवक्षितं चैतत् तेन नैश्चिन्त्या-
दिगुणसंभवेऽपि विप्रादीनां शान्तैर न लालित्यं यथा मालतीमाधव-मृ-
च्छकटिकादौ भाववचारदत्तादिः ।

“ तत उदयगिरिरिवैक एव

स्फुरितगुणश्रुतिमुन्दरः कलावान् ।

इह जगति महोत्सवस्य हेतु-

नैनयनस्तामुदियाय बालचन्द्रः ॥”

इत्यादि । यथा वा—

“ मरुतशतपरिपूर्णं गोत्रमुजासितं यत्

सदसि निनिडचैत्यग्रहचोपै. पुरस्तात् ।

मम निधनदशायां यन्मानस्य पाप-

स्तदस्तद्वदमनुर्थैर्युज्यते घोषणायाम् ” (इत्यादि)

अथ धीरोदात्त —

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविग्रहस्थनः ॥ ४ ॥

स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।

महासत्त्वः=शोषत्रोबाधनभिभूतान्त.सत्त्व; अविग्रहस्थनः=अनात्मशा-
घन; निगूढाहङ्कारः=विनयवृत्तावलेपः । दृढव्रतः=अङ्गीकृतनिर्वाहको
भीरोदात्तः यथा नागानन्दे—“ जीमूतमाहनः—

शिरामुलैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मासमस्ति ।

वृत्तिं न पश्यामि तत्रैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गच्छन् ॥”

यथा च रामं प्रति—

“ बाह्वत्स्यामिपेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।

न मया लक्षितस्तस्य स्वप्नोऽप्यापारमिभ्रमः ॥”

द्विजादिक इतीति—द्विजादिक इत्यत्रदिपदं विप्रदीनमुत्पन्नं संभारक-
मित्यर्थः । प्रवरणशब्देन “नाष्टकमप्यप्रकरणम्” इति नान्यत्र द्वितीरभेदो
माद्यः । एतत्=धरमन्त्रं विप्रदीनं विधिभिन्नपर्यं किं वा घट्टरति-
दिप्रवरणनाशकान्मादिशब्देनेत्यर्थः । विप्रदिनेन तेन न निश्चयेन विप्र-
दीनां धीरशान्तयमेव निरुपगच्छीत्यर्थः । “चरुदण्डि” इत्यत्र “दण्ड” इति
नन्द. इति ३५ ।

यच्च केपाचित्स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे कचित्सं-
कीर्तनं तत्तेषां तद्वाचिस्यप्रतिपादनार्थम् ।

ननु च कथं जीमूतवाहनादिर्नागानन्दादायुदात्त इत्युच्यते ? औदात्त्यं
हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्तिः तच्च विजिगीपुत्व एवोपपद्यते जीमूतवाहनस्तु
निर्जिगीपुतयैव कविना प्रतिपादितः यथा—

“ तिष्ठन्भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
यत्संवाहयतः सुरं हि चरणौ तातस्य किं राज्यतः ।
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरो-
रायासः खलु राज्यमुक्षितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद्वृणः ॥”

इत्यनेन ।

“ पित्रोर्विधातुं शुश्रूषा त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम् ।
वनं यान्यहमप्येष यथा जीमूतवाहनः ॥ ”

इत्यनेन च, अतोऽस्यात्यन्तशमप्रधानत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च वीतरागव-
च्छान्तता । अन्यच्चात्रायुक्तं यत्तथाभूतं राज्यसुरादावै निरभिलापं नायक-
मुपादायान्तरा तथाभूतमलयवत्यनुरागोपवर्णनम् । यच्चोक्तम्—‘सामान्य-
गुणयोगी द्विजादिर्धोरशान्तः’ इति तदपि पारिभाषिकत्वाद्वास्तवमित्यभे-

यच्चेति—स्थैर्यादयो हि सामान्यतो नायकमात्रस्य गुणा अथापि यत्तेषां
स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानां विशेषलक्षणे—धीरोदात्तादिनायकविशेषलक्षणे सकीर्त-
नम्—कथनं तत् तेषाम्—स्थैर्यादीनां सत्र—धीरोदात्तादावाधिक्यप्रतिपादनार्थं
मित्यर्थः—यथा धीरोदात्तस्य स्थैर्यलोपो कदापि न भवतीति ।

शङ्कते—नन्विति । नागानन्दादौ यो जीमूतवाहनादिः ॥ उदात्त इति कथमु-
च्यते इत्यन्वयः । सर्वोत्कर्षेण वृत्तिः—सर्वेभ्यः स्वोत्कर्षसंपादनम् (वृत्तिः—वर्तन
स्थितिः) तच्च—औदात्त्यं च (उदात्तत्वं च) । अस्मिन्—जीमूतवाहनस्य । अत्र—
नागानन्दे । अयुक्तमिति—राज्यसुरादावपि निरभिलापस्य जीमूतवाहनस्य मल-
यवत्यनुरागोपवर्णनप्राप्ता स्त्रीमुत्ताभिलाषा सर्वथाऽयुक्तेत्यर्थः । उक्तप्रकारेण जीमू-
तवाहनादेरुदात्तत्वाभावे प्राप्ते निर्जिगीपुतया यत् शान्तत्वं प्राप्तं तत्रोक्तशान्तलक्ष-
णप्रियक् शङ्कान्तरमुद्धाटयति—यच्चोक्तमिति, धीरशान्तस्य निरभिलापित्वेन
“नेता विनीतः” इत्यादिपूर्वोक्तदृष्टत्वादिसामान्यगुणयोगोऽपि न समवर्तीति
सामान्यगुणयोगित्वं पारिभाषिकमेवेति प्राप्तं पारिभाषिकत्वाद् अवास्तवम्—मि-
थ्याभूतमेव तेन च सामान्यगुणयोगित्वं विशेषणम् अभेदकम्—नायकान्तरेभ्यः

दकम् । अतो वस्तुस्थित्या बुद्ध-युधिष्ठिर-जीमूतवाहनादिव्यवहाराः शान्त-
तामाविर्भावयन्ति ।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तं सर्वोत्कर्षेण वृत्तिरौदात्त्यमिति न तर्जीमूत-
वाहनादौ परिहीयते—न ह्येकरूपेण विजिगीषुता य केनापि शौर्यत्या-
गदयादिनाऽन्यानतिशेते स विजिगीषु, न य परापरकारेणार्थप्रहादि-
प्रवृत्तः, तथात्वे च मार्गदूषकादेरपि धीरोदात्तत्वप्रसक्तिः । रामादेरपि
जगत्पालनीयमिति दुष्टनिग्रहे प्रवृत्तस्य नान्तरीयकत्वेन भूम्यादिलाभ ।
जीमूतवाहनादिस्तु प्राणैरपि परार्थसंपादनाद्विश्वमप्यतिशेते इत्युदात्ततमः ।
यद्युक्तम्—“ तिष्ठन्भाति ” इत्यादिना विषयसुखपराहसुरजतेति तन्
सत्यम्—कार्पण्यहेतुषु स्वसुखतृष्णासु निरभिलाषा एव जिगीषवः,
तदुक्तम्—

“स्वसुखनिरभिलाष खिद्यसे लोभहेतोः ।

प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।

अनुभवति हि मूर्धा पादपस्तीन्मुष्णं

शमयति परिताप छायायोपाश्रितानाम् ॥” इत्यादिना ।

मलयवत्यनुरागोपवर्णनं त्वऽशान्तरसाश्रयं शान्तनायकता प्रत्युत
तिपेक्षति । शान्तत्वं चानहङ्कृतत्वं तथ विप्रादेरौचित्यप्राप्तमिति वस्तु
स्थित्या विप्रादेः शान्तता न स्वपरिभाषामात्रेण । बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु

शान्तस्य व्यावर्तक न समभवति—शान्तस्य विशेषणान्तरं च नास्तीति द्विगादि-
कस्य सर्वस्यैव किं वा सर्वेणमेव धीरोदात्तादिनायकानां शान्तत्वं प्राप्तमित्यर्थः ।
प्रकृतशङ्कामुपसर्गति—अत इति, यतो जीमूतवाहनादेरुक्तप्रकारेणोदात्तत्वं न
समभवति अतः, किं वा शान्तरसानुगुण्यादित्यर्थः ।

उत्तरमाह—अत्रोच्यते इत्यादिना ।

तथात्वे—परापरकारेणार्थप्रहादिप्रवृत्तस्य शिजिगीषुत्वे मार्गदूषकादेः—मार्गे दुष्ट-
नपरस्यापि धीरोदात्तत्वं स्याद् न चैतदिष्टमित्यर्थः । नान्तरीयकत्वेन—अनुरागा-
दिति यावत् दुष्टनृतिनिग्रहप्रवृत्तस्य अनुरागात् भूम्यादिलाभसंभवादित्यर्थः ।

जीमूतवाहनस्य प्रतिपादिता शान्तनायकता निराचष्टे—मलयवतीति । “अग-
न्तरसाभयम्” इति मलयवत्यनुरागोपवर्णनविशेषः तस्य च “शान्तरमप्रतिवृत्तम्”
इत्यर्थः । शान्तत्वस्योच पारिभाषिकत्वं पराकरोति—शान्तत्वमिति । भेद इति—

कारुणिकत्वाविशेषेऽपि सकामनिष्कामकरुणत्वादिधर्मत्वाद्भेदः । अतो जीमूतवाहनादेर्धीरोदात्तत्वमिति ।

अथ धीरोद्धत —

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाउन्नपरायणः ॥ ५ ॥

धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलयण्डो विकत्यनः ।

दर्प = शौर्यादिमद, मात्सर्यम् = असहनता, मन्त्रगलेनाविद्यमानवस्तु-
प्रकाशनम् = माया, उद्य-वञ्चनामात्रम्, चलयण्ड = अनवस्थितश्चण्ड = रौद्र,
स्वगुणशसी = विकृत्यनो धीरोद्धतो भवति यथा जामदग्न्य-—“शैलासो-
द्धारसारत्रिभुवनविजय-—” इत्यादि । यथा च रावण —“त्रैलोक्यैश्व-
र्यलक्ष्मीदृढहरणसहा धाह्वो रावणस्य ।” इत्यादि ।

धीरललितादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिनः, वत्स-
वृषभमहोक्षादिवन्न जात्या कश्चिदवस्थितरूपो ललितादिरस्ति, तदा हि
महाकविप्रबन्धेषु विरुद्धानेरूपाभिधानमसंगतमेव स्यात्—जातेरनपा-

बुद्धो निष्कामकारुणिको जीमूतवाहनस्तु स्रामकारुणिक इति धर्माद्भेदः । “धीरो-
दात्तत्वम्” इत्यत्र सिद्धमिति शेषः ॥ ५ ॥

यथोक्तेति—धीरललितादिलक्षणोक्ता ये निश्चिन्तित्वादयो गुणास्तैः समारोपिता
या धीरललितत्वाद्यवस्थास्तद्बोधका धीरललितादिशब्दा सन्ति तस्माद् यथा
वत्सावस्थानन्तरमेव वृषभभावस्था तदनन्तरमेव च महोभावस्येति वत्सस्य वत्स-
त्वमेव नियतं न वृषभत्वमुपपद्यते तथा प्रकृते नियमो नास्ति किं त्वेकस्यापि
महापुरुषस्य तत्तद्गुणसम्बन्धेन तत्तन्नायकत्वमुपपद्यते इत्यर्थः । तदा हि—यदि
ललितत्वादिकं नियतं स्याद् नाम यदि ललितत्वशान्तत्वादिकं परस्परं व्यधि-
करणमेव स्यात्तदा द्वेकस्य नायकस्य परस्परविकल्पात् ललितत्वशान्तत्वादिक-
पेणाऽभिधानम् = प्रतिपादनमसंगतमेव स्यादित्यर्थः । उक्ते हेतुमाह—जातेरिति,
यदि ललितत्वादिकं जातिः स्यान्तदा जातेरनपायित्वात् विनाशासम्भवाद् ललिते
ललितत्वसत्त्वात् तद्विरुद्धं शान्तत्वं न स्यादेवेति न ललितादिशब्दा जातिवाचिनः
किं ॥ गुणवाचिनस्तथा च तत्तद्गुणविवक्षया तत्तन्नायकत्वमेकस्याप्युपपद्यते
यथा एक एव नायकः प्रियासमीपे ललित युद्धादिषु धीर गुणादिसमीपे च
शान्त इति ।

किं वा वत्सवृषभेत्युक्ते उदाहरणं यथैकस्या एव व्यक्तेरवस्थाभेदेन वत्स

यित्वात्, तथा च भवभूतिनैक एव जामदग्न्यः—

“प्राह्मणाविग्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।

जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥”

इत्यादिना रावणं प्रति धीरोदात्तत्वेन. “कैलासोद्धारसार—”इत्यादिभिश्च रामादीन्प्रति प्रथमं धीरोद्धतत्वेन. पुन —“पुण्या प्राह्मणजाति ” इत्यादिभिश्च धीरशान्तत्वेनोपवर्णित । न चावस्थान्तराभिधानमनुचितम्—अङ्गभूतनायकानां नायकान्तरापेक्षया महासत्त्वादेरव्यवस्थितत्वात् । अङ्गिनस्तु रामादेरेकप्रबन्धोपात्तान् प्रत्येकरूपत्वादारम्भोपात्तावस्थातोऽवस्थान्तरोपादानमन्याप्यं ययोदात्तत्वाभिमतस्य रामस्य छद्मनायालिवरावमहासत्त्वतया स्वावस्थापरित्याग इति ।

वक्ष्यमाणानां च दक्षिणाद्यवस्थानाम् “पूर्वा प्रत्यन्यायाहृतः” इति नित्यसापेक्षत्वेनाविर्भावादुपात्तावस्थातोऽवस्थान्तराभिधानमङ्गाङ्गिनोरप्यविरुद्धम् ।

त्व वृषभत्व चोपपद्यते तथा प्रकृतेऽप्येकस्य तत्तद्गुणभेदेन ललितत्व शान्तत्वादिकं चोपपद्यते इत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे नेत्यत्र नस्त्विति पाठो युक्तः । उक्ते भवभूतिग्रन्थमुदाहरति—तथा चेति ।

नन्वेकस्यैव जामदग्न्यस्य धीरोदात्तत्वावस्थामभिधाय धीरोद्धतत्वाद्यवस्थान्तरस्याभिधानमनुचितं स्यादित्याशङ्क्याह—न चेति । परिहरहेतुमाह—अङ्गभूतेति, नायकान्तरापेक्षया—प्रधाननायकापेक्षयाऽङ्गभूतानाम्—अप्रधानानां नायकानामवस्थाभूत धीरोदात्तत्वादिप्रयोजक महासत्त्वादिकमव्यवस्थितं भवति, उक्तस्थले च जामदग्न्योऽप्रधाननायक एवेति तस्यावस्थान्तराभिधानं नानुचितमित्यर्थः । प्रधाननायकस्य त्ववस्थान्तराभिधानमनुचितमेवेत्याह—अङ्गिन इति, अङ्गिन—प्रधाननायकस्य । एकप्रबन्धोपात्तान्—तत्प्रबन्धोक्तपात्राणि प्रति । प्रधाननायकस्यावस्थान्तरोपादाने उदाहरणमाह—यथेति, छद्मना वधेनाऽमहासत्त्वं जायते इति अमहासत्त्वतया—महासत्त्वत्वाभावापत्त्या स्वावस्थापरित्याग—उदात्तत्वप्रयोजकमहासत्त्वावस्थापरित्यागः ।

वक्ष्यमाणदक्षिणाद्यवस्थानां मध्ये तु प्रधाननायकस्याप्यवस्थान्तराभिधानं न विरुद्धं तासां परस्परं तादृशमहाविरोधाभावादित्याह—वक्ष्यमाणानामिति, नित्यसापेक्षत्वेनेति—प्रथमं नामको ज्येष्ठनायिकायां सहृदयत्वाद् दक्षिणो भवति तदनन्तरमेव कदाचिद्गूढविधियाचरणेन शठो व्यक्ताङ्गविकारेण च धृष्टो भवतीत्युच्यते—

अथ शृङ्गारनेत्रऽवस्थाः—

स दाक्षिणः शठो घृष्टः पूर्वा प्रत्यन्यया हृतः ॥ ६ ॥

नायकप्रकरणात्पूर्वा नायिकां प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयापहतचित्तव्य-
वस्थो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थः । तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं
चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः ।

तत्र—

दक्षिणोऽस्यां सहृदयः,

योऽस्यां ज्येष्ठायां हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः यथा ममैव—

‘प्रसीदस्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो

रतिक्रीडाः कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनयः ।

सविध्रम्भः कश्चित्कथयति च किंचित्परिजनो

न चाहं प्रत्येमि प्रियसरि किमप्यस्य विवृतिम् ॥’

यथा वा—

‘उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं वहवः रण्डनहेतवो हि दृष्टाः ।

उपचारविधिर्मनस्विनीनां नतु पूर्वोभ्यधिकोऽपि भावदून्यः ॥’

अथ शठः—

गूढविमियकृच्छठः ।

दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि
सहृदयत्वेन शठाद्विशेषः, यथा—

रावस्थायाः—घृष्टत्वाद्यवस्थायाः, पूर्वपूर्वसठत्वाद्यवस्थासापेक्षत्वेन प्रादुर्भावात् अज्ञा-
हिनो—अप्रधानस्य प्रधानस्यापि च नायकस्योपात्तदक्षिणस्याद्यवस्थातो शठत्वा-
द्यवस्थान्तराभिधानं विरुद्धं न भवतीति भावः ।

नायकप्रकरणादिति—अत्र नायकस्य प्रकरणमस्तीति शीलित्वेन द्वितीयान्त-
पूर्वापदेनान् मूले नायिका ग्राह्या तथा च पूर्वा प्रति नाम प्रथमनायिकानापेक्षयाऽ-
नया नवीननायिकयाऽपहतचित्तो दक्षिणशठघृष्टभेदेस्त्रिविधो नायको भवति
वक्ष्यमाणेनानुकूलभेदेन सह स. नायकश्चतुर्विधो जायते इत्यर्थः ॥ ६ ॥

सहृदयः—प्रीतियुक्तः ।

विशेष इति—शठः पूर्वस्या नायिकायां स्फुटदयः—प्रीतियुक्तो न भवति दक्षि-
णश्च भवतीति शठदक्षिणयोर्विशेषः ।

“ शठाऽन्यस्या. काश्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
 . यदाश्लिष्यन्नेव प्रक्षिथिलभुजप्रन्थिरभवः ।
 . तदेतत्काचक्षे धृतमधुमयत्वद्बहुवचो-
 विपेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥”

अथ धृष्टः—

व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टः,

यथामरुशतके—

“ लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
 वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः ।
 दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
 लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ॥”

भेदान्तरमाह—

अनुकूलस्वेकनायिकः ॥ ७ ॥

यथा—

“ अद्वैतं सुरदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थामु यद्
 विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः
 कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्क्षेपेहसारे स्थितं
 भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥”

किमवस्थः पुनरेषां वत्सराजादिर्नाटिकानायकः स्यात् ? इत्युच्यते—
 पूर्वमनुपप्रातनायिकान्तरानुरागोऽनुकूलः, परतस्तु दक्षिणः । ननु च गूढ-
 विप्रियकारित्वाद्वयक्षतरविप्रियत्वाच्च शास्त्रव्याप्येऽपि कस्मान्न भवतः,
 न— तथाविधविप्रियत्वेऽपि वत्सराजादेराप्रवन्धस्तस्मात्प्रेज्येष्ठां नायिकां प्रति
 सहृदयत्वादक्षिणतैव । न चोभयोर्येष्ठाकनिष्ठयोनार्यकस्य स्नेहेन न भ-

व्यक्तेति—व्यक्तान्यङ्गवैकृतानि=अन्यनायिकासमो गच्छिहानि यस्य स व्यक्ता-
 ङ्गवैकृतो धृष्टः ।

भेदान्तरमिति—उच्चदक्षिणशठधृष्टेतिविधिविधभेदातिरिक्तं चतुर्थं भेदमाहेत्वर्थः ।

एकानायिका यस्य स एकनायिक = एकमानानुरक्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

पूर्वम्=सागरिकादर्शनात् पूर्वम् । परतः=सागरिकादर्शनानन्तरम् ।

भवत इत्यत्र वत्सराजादेरिति शेषः । ज्येष्ठां वासरदत्तां प्रति ।

वितव्यमिति वाच्यम्, अविरोधात् । महाकविप्रबन्धेषु च—

“ स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु-
 र्युते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च ।
 इत्यन्तपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
 देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥”

इत्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकासु प्रतिप्रच्युपनिगन्धनात् ।

तथा च भरतः—

“ मधुरस्त्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वशमेति ।

अवमानितश्च नार्या विरज्येत स ॥ भक्तेज्येष्ठः ”

इत्यत्र ‘ न रागं याति न मदनस्य वशमेति ’ इत्यनेनाऽसाधारण एकस्या
 स्नेहो निषिद्धो दक्षिणस्येति, अतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थितं
 दाक्षिण्यमिति । षोडशानामपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाष्टाचत्वारिंश-
 न्नायकभेदा भवन्ति ।

सहायानाह—

पताकानायकस्त्वन्यः पीठपदों विचक्षणः ।

तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तदुणैः ॥ ८ ॥

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेषः पताका तन्नायकः पीठमर्दः प्रधानेतिवृ-
 त्तनायकस्य सहायः, यथा मालतीमाधवे मकरन्दः रामायणे सुप्रीवः ।

सहायान्तरमाह—

एकविधो विटश्चान्यः, हास्यकृश्च विदूषकः ।

अविरोधादिति—यथाऽनेकेषु पुत्रेषु स्नेहो भवति तथाऽनेकासु नायिकास्वपि
 न स्नेहानुपपत्तिरित्यर्थः ।

“ व्यक्ततरविप्रियत्वात् ” इत्यस्य स्थाने ‘ व्यक्ततराङ्गविनारात् ’ इत्येव पाठो
 युक्तः । किंवा विप्रियत्वं प्रतिकृत्वाचारित्वं श्रेयम् ।

प्रतिपत्तिः=बुद्धिः सा चान् प्रीतिरुपा ग्राह्या ।

ज्येष्ठ=उत्तमः । इत्येति—उत्तमवचने दक्षिणस्वैकस्या नायिकायामसाधा-
 रणः=अनन्यसाधारणः (तदतिरिक्तनायिकान्तरविरस्फारकारी) स्नेहो निषिद्धः=न
 भवतीत्युक्तं तेन च स्वसहस्रनायिकासु साम्यं प्राप्तं वत्सराजस्याप्यासमाप्ति वास-
 यदचारान्नावल्योः प्रेमसाम्येन दक्षिणत्व प्राप्तमित्यर्थः ।

तस्य=प्रधाननायकस्य । तदुणैः=प्रधाननायकगुणैः ॥ ८ ॥

गीतादिविद्यानां नायकपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विटः,
हास्यकारी विदूषकः, अस्य विकृताकारवेपादित्वं हास्यकारित्वेनैव लभ्यते
यथा शोखरको नागानन्दे विटः, विदूषकः प्रसिद्ध एव ।

अथ प्रतिनायकः—

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्दयसनी रिपुः ॥ ९ ॥

तस्य नायकस्येत्यंभूतः प्रतिपक्षनायको भवति यथा रामयुधिष्ठिरयो
रावणदुर्योधनौ ।

अथ सात्त्विका नायकगुणाः—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं शैर्यैर्यतेजसी ।

ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः ॥ १० ॥

तत्र (शोभा यथा)—

नीचे घृणाऽधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते ।

नीचे घृणा यथा वीरचरिते—

“ उत्तालताडकौत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः ।

नियुक्तस्तत्प्रमाथाय छीनेन विचिकित्सति ॥”

गुणाधिकैः स्पर्धा यथा—

“ एतां पश्य पुरः स्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः

कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः ।

इत्याकर्ण्य कयाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते-

र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥”

शौर्यशोभा यथा ममैव—

‘ अन्त्रैः स्वैरपि संयताग्रघरणो मूर्च्छाविरामक्षणे

स्वाधीनव्रणिताद्गशस्त्रनिचितो रोमोद्भ्रमं वर्मयन् ।

भस्मानुद्गल्यन्निजान्परभटान्संनर्जयन्निष्ठुरं

धन्यो धाम जयश्रियः पृथुरणस्तम्भे पताकायते ॥ ”

इत्यंभूतः=लुब्धत्वाद्युक्तदोषावान्तः । प्रतिपक्षनायकः=शत्रुः ॥ ९ ॥

सात्त्विकाः=मनस्संबन्धिनः । उक्तं च “ रजस्तमोभ्यामसृष्टं मनः सत्त्वमि-

होच्यते । ” इति ॥ १० ॥

१ ‘धैर्य’ इति पाठान्तरम् २ “ सात्त्विकाः ” इति पाठान्तरम् ।

दक्षशोभा यथा वीरचरिते—

“ स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यमृतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृदिविषदां तेजोभिरिदं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भ्रष्टं च तन् ॥”

अथ विलासः—

गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सास्मितं वचः ॥ ११ ॥

यथा—

“ दृष्टिस्तृणीकृतजगज्जयसत्त्वसारा
धौरोद्धता नमयतीव गतिर्योरिरीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद्रुता दधानो
धीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥”

अथ माधुर्यम्—

श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं संक्षोभे मुमहत्पपि ।
महत्पपि विकारहेतौ मधुरो विकारो माधुर्यं यथा—

“ कपोले जानन्याः करिकलभदन्तशुविमुपि
स्मरस्मेरं गण्डोद्गमस्फुलकं वक्त्रमलम् ।
मुहुः पश्यन्तृणन्तजनिचरसेनाकलस्त्रं
जटाजूटमन्थि द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥”

अथ गाम्भीर्यम्—

गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते ॥ १२ ॥

मृदुविकारोपलम्भाद्विकारानुपलब्धिरन्येति माधुर्योदन्यद्गाम्भीर्यम्,

यथा—

“ आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥”

अथ सैर्यम्—

व्यवसायादचलनं सैर्यं विघ्नकुलादपि ।

माधुर्यं मृदुविकारस्तत्प्रतीतिश्च भवति गाम्भीर्यं तु जायमानस्य मृदोरपि वि-
कारस्योपलब्धिर्न भवतीति माधुर्यगाम्भीर्ययोर्विशेषः ॥ १२ ॥

विघ्नकुलात्—विघ्नसमूहे सत्यपि व्यवसायात्—स्वकर्तव्यादचलनं सैर्यमित्यर्थः ।

यथा वीरचरिते—

“ प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रप्रहमहाव्रतम् ॥ ”

अथ तेजः—

अधिक्षेपाद्यऽसहजं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥ १३ ॥

यथा—

“ मृत नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी ।
अङ्गुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विनः ॥ ”

अथ ललितम्—

शृङ्गाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु ।

स्वाभाविकः शृङ्गारो मृदुः तथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम्,
यथा ममैव—

‘ लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन
स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण ।
किंवा ममेव सखि योऽपि ममोपदेष्टा
तस्यैव किं न विषमं विद्मोत तापम् ॥ ’

अथौदार्यम्—

मिपोक्त्याऽऽजीवितादानमौदार्यं सदुपग्रहः ॥ १४ ॥

प्रियवचनेन सहाऽऽजीवितावधेर्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च यथा ना-
गानन्दे—

“ शिरामुल्लैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरक्तो गरुत्मन ॥ ”

सदुपग्रहो यथा—

“ एते वयममी दाराः वन्येयं कुलजीवितम् ।
मृत येनात्र व. कार्यमनास्था बाह्यस्तुषु ॥ ”

प्राणात्ययेष्वपि=प्राणसङ्कटसमयेष्वपि ॥ १३ ॥

स्वाभाविकः=अङ्गुलिम्, किं वा स्वमात्रेनेत्यर्थः । तथाविधा=स्वामादिना ।

सदुपग्रहः=मत्स्वानुज्ञप्त्यमिति यावद् यथोदाहरणे सद्भयः स्वसर्गनिवे-
दनम् ॥ १४ ॥

अथ नायिका—

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्वृणा नायिका त्रिधा ।

तद्वृणेति यथोक्तसंभवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति, स्वस्त्री परस्त्री साधारणस्त्रीत्यनेन त्रिभागेन त्रिधा ।

तत्र स्त्रीयाया विभागगर्भं सामान्यरक्षणमाह—

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्त्रीया शीलार्जवादियुक् ॥ १५ ॥

शीलं सुदृढम्, पतिप्रवाङ्मुदिला लज्जावती पुरुषोपचारनिपुणा स्त्रीया नायिका ।

तत्र शीलवती यथा—

“कुलवालिआए पेच्छह जोवणलाअणविभ्रमविलासा ।

पसन्ति व्य पवसिए एन्ति न्व पिये धरं एत्ते ॥”

आर्जवादियोगिनी यथा—

“हंसिअमविआरमुद्धं भमिअं विरहिअविलासमुच्छाअम् ।

भणिअं सहावसरलं धण्णाण धरे कलत्ताणम् ॥”

लज्जावती यथा—

“लज्जापज्जत्तपसाहणाई परतित्तिणिप्पिवासाई ।

अविणअदुम्मेहाई धण्णाण धरे कलत्ताई ॥”

सा चैवंविधा स्त्रीया मुग्धा-मध्या-प्रगल्भाभेदादिविधा ।

अन्या=परस्त्री । स्वा=स्वस्त्रीया ।

पुरुषोपचारनिपुणा= पतिसेवाप्रवीणा ।

“अविणअदुम्मेहाइम्=अविनयदुर्मेधासि” इत्यस्य ‘अविनये दुर्मेधासि=अविनयो न कर्तव्य इत्येवमविनयविश्वदुष्टज्ञानवन्ति’ इत्यर्थः अविनयशून्यानी-
तियावत् ॥ १५ ॥

१ “कुलवालिआयाः प्रेक्ष्य यौवनलावण्यविभ्रमविलासाः ।

प्रवमन्तीव प्रवसिते आगच्छन्तीव प्रिये गृहमागते ॥” इति च्छाया ।

२ “हसितमविचारमुग्ध अमित विरहितविलासमुच्छाअम् ।

भणित स्वभावसरल धन्याना गृहे कलत्राणाम् ॥” इति च्छाया ।

३ “लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परतृप्तिनिष्पिपासानि ।

अविनयदुर्मेधाणि धान्याना गृहे कलत्राणि ॥” इति च्छाया ।

तत्र—

मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ।

प्रथमावतीर्णवारुण्यमन्मथा रमणे वामशीला सुतोपायप्रसादना मुग्ध-
नायिका ।

तत्र वयोमुग्धा यथा—

“ विस्तारौ स्तनभार एव गमितो न स्वोचितामुन्नतिं
रेखोज्ञासिद्धं बलित्रयमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।
मध्येऽस्या नजुरायतार्थकपिशा रोमावली निर्मिता
रम्यं यौवनशैशवव्यतिर्रोन्मिश्रं वयो वर्तते ॥”

यथा च समैव—

‘ उरुसन्मण्डलप्रान्तरेखमानदधु इमलम् ।
अपर्याप्तमुरो वृद्धेः संसत्यस्याः स्तनद्वयम् ॥ ’

काममुग्धा यथा—

“ दृष्टिः सालसता निभर्ति न शिशुकीडासु यद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसंभोगगतांस्त्वपि ।
पुंसामङ्गमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
याला नूतनयौवनव्यतिररागप्रभ्यमाना शनैः ॥”

रतवामा यथा—

“ व्याहृता प्रतिवचो न संदधे मन्तुपैच्छदबलम्वितांशुका ।
सेरते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥”

मृदुः कोपे यथा—

“ प्रथमजनिते बाला मन्यौ विकारमज्ञाननी
वितवचरितेनासज्याष्टे विनम्रमुजैव सा ।
चिबुस्मालिकं चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमविभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योष्टे रुदन्त्यपि चुम्बिता ॥ ”

एवमन्येऽपि लज्जासंभृतानुगगनिम्बना मुग्धा न्यवदारा निधन्वनीया,
यथा—

“ न मध्ये सत्कारं कुसुममपि शाला विशहते
न निःश्वासैः सुधूर्जनयति तरङ्गव्यतिर्रम् ।

लज्जासंभृता लज्जाच्छादिता लज्जाप्रपन्ना इति यावत्, अनुगगनिम्बना लज्जा-
नुरागमूलका । किं वा लज्जा संभृता योऽनुगगस्तन्निबन्धना ।

नवोढा पश्यन्ती लिखितमिव भर्तुः प्रतिमुत्तं
प्ररोहद्रोमाश्चा न पिवति न पात्रं चलयति ॥”

अथ मध्या—

मध्योद्ययौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ॥ १६ ॥

संप्राप्ततारुण्यकामा मोहान्तरतयोग्या मध्या ।

सत्र यौवनवती यथा—

“ आलापान्भ्रूविलासो विरलयति लसद्बाहुविक्षिप्तियातं
नीवीप्रन्थि प्रथिन्ना प्रसनयति मनाह्ममध्यनिम्नो नितम्बः ।
उत्पुष्पत्पार्श्वमूर्च्छत्कुचशिखरमुरो नूनमन्तः स्मरेण
रघुप्रा कोदण्डकोट्या हरिणशिशुदृशो दृश्यते यौवनग्रीः ॥”

कामवती यथा—

“ स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभिः—
यैदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः ।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुग्धा
नयननलिनीनालाकृष्टं पिवन्ति रसं प्रियाः ॥”

मध्यासंभोगो यथा—

“ ताव चिञ्च रत्नसमं महिलाणं विभ्रमा विराजन्ति ।
जाव ण कुवलयदलसच्छहाइ मउलेन्ति णभणाई ॥”

एवं धीरायामधीरायां धीराधीरायामप्युदाहार्यम् ।

अथास्या मानवृत्तिः—

धीरा सोत्मासवक्रोक्त्या, मध्या साश्रु कृतागसम् ।

खेदयेदयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ॥ १७ ॥

मोहान्तसुरतक्षमा—यस्य सुरतस्यान्ते नापिनाया मोह—विप्रेकाभावः स्यात्
तादृशसुरतक्षमा मध्येत्यर्थः ॥ १६ ॥

एवमिति—एवमेव धीराया अधीराया धीराधीरायाश्चोदाहरणानि विवेका-
नीत्यर्थः ।

मध्याया धीरात्वादिभेदेन त्रैविध्याद् मानवृत्तिमपि त्रिविधामाह—धीरेति ।
धीरापदेनात्र मध्याधीरा मध्यापदेन मध्याधीराधीरा अधीरापदेन चान्न मध्या-

१ “ तावदेव रत्नसमं महिलाणां विभ्रमा विराजन्ते ।

यावन कुवलयदलसच्छहानि मुकुलयन्ति नयनानि ॥ ” इति च्छाया ।

मध्याधीरा कृतापरार्धं प्रियं सोऽप्यासन्नोऽप्येया सेदयेन् यथा माधे—

“ न खलु वयममुष्य दानयोग्याः

पित्रति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।

प्रज विटपममुं ददस्व तस्यै

भक्तु यतः सट्प्रोक्षिराय योगः ॥ ”

धीराधीरा साश्च सोऽप्यासन्नोऽप्येया सेदयेन्, यथाऽमरुगतके—

“ बाले नाथ विमुच्य मानिनि रुपं रोषान्मया किं कृतं

सेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भगान्सर्वेऽपराधा मयि ।

तर्हि रोदिपि गद्वदेन वचसा कस्यामतो रुधते

नन्वेतन्मम का तयास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुधते ॥ ”

अधीरा साश्च परपाक्षम्, यथा—

“ यातु यातु निमनेन तिष्ठता मुच्य मुच्य सग्नि मोदरं कथाः ।

रणिङ्गताधरकलङ्कितं प्रियं शस्तुमो न नयनैर्निर्गीभितुम् ॥ ”

एवमपरेऽपि प्रीडानुपहिताः स्वयमनभियोगकारिणो मध्याध्यवदाग
भवन्ति यथा—

“ स्वेदाग्मःकणिकाश्चिनेऽपि वदने जातेऽपि रोमोद्गमे

विश्रम्भेऽपि गुरौ पयोधरभरोत्तम्येऽपि वृद्धि गते ।

दुर्धारस्मरनिर्भरेऽपि हृदये नैराभियुक्तः प्रिय-

स्तन्यङ्गया दृढेनैरुर्गपनाभेगामृते लुब्धया ॥ ”

स्वतोऽनभियोजकत्वं दृढेनैरुर्गपनाभेगामृते लुब्धयेन दुर्गेश-
प्रतीतिः ।

ऽधीरा माया । कृतागममिति प्रियविहीनम् । “ माधु ” “ दस्यधरम् ”

इतिद्वयं त्रियापिहीनम् । “ परशुधरम् ” इत्यस्य परशुधरैरित्यर्थः “ मध्या-

धीरा ” इति मूलोक्तस्य “ धीरा ” इतिद्वयस्य व्याख्या ।

धीराधीरा-मध्याधीराधीरा । अधीरा-मध्याधीरा । अथ “नरदेन” इति शेषः ।

प्रीडानुपहिताः-लज्जापञ्चगोत्रधिरहिताः ।

स्वयमनभियोगकारिणः-मुक्ते स्वयं (मया) प्रवृत्तदोषकाः । दिवः
स्वयमेव मुखे प्रवर्तेत इति कर्माहते मध्येऽपि भवः ।

एता इति-दृढेनैरुर्गपनाभेगामृते लुब्धयेन स्तन्यङ्गया प्रिये नभि-
युक्त-स्वयं नभिष्य इत्युपेधोऽप्यङ्गीकारं न विहायः सातोऽनभिनेत्यवयव-
गो इत्यर्थः ॥ १७ ॥

“ दृष्ट्वासनसंस्थिते प्रियतमे पञ्चादुपेत्यादरा-
 देकस्या नयने निर्मात्य विहितमृद्वानुबन्धच्छलः ।
 ईषद्वप्रितरन्धरः सपुलकः प्रेमोत्सन्मानसा-
 मन्तर्हासलसत्कपोलकृत्वा धृतोऽपरां चुम्बति ॥ ”

न चानयोदांक्षिण्यप्रेमभ्यामेव व्यवहारः अपि तु प्रेम्णापि यया चैन-
 त्तयोक्तं दक्षिणलक्षणावसरे । एषां च धीरमध्या-अधीरमध्या-धीराधीरम-
 ध्या-धीरप्रगल्भा-अधीरप्रगल्भा-धीराधीरप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाक-
 निष्ठाभेदाद्वाद्दशानां वामवदन्ता-रत्नावलीवद्वयबन्धनार्थिकानामुदाहरणा-
 नि महाकविप्ररन्ध्रेष्वनुसर्तव्यानि ।

अथान्यस्त्री—

अन्यस्त्री कन्यकोटा च नान्योटाऽङ्गिरसे कचित् ॥ २० ॥
 कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।

नायकान्तरसंनन्धिन्यङ्ग्योटा यथा—

“ दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन्गृहे दास्यसि
 प्रायेणास्य शिरोः पिता न विरसाः कौपीनपः पात्यति ।
 एकाकिन्यपि यामि तद्वरमितः श्रोतस्तमालाकुलं
 नीरन्ध्रास्तनुमालिरन्तु जरठच्छेदानलप्रन्ययः ॥ ”

इयं त्वङ्गिनि प्रधाने रसे न कचिन्निरन्धनीयेति न प्रपञ्चिता ।

नचेति—ज्येष्ठयां दाक्षिण्येनैव न प्रेम्णा कनिष्ठया च प्रेम्णैव व्यवहारो वर्तन-
 मवतीति निश्चयो नास्ति किं तु ज्येष्ठायामपि प्रेम्णा व्यवहारो भवनीत्यर्थः ।
 अनयो—ज्येष्ठारनिष्ठया । एतत्—प्रेम्णा व्यवहारः । दक्षिणलक्षणावसरे “ सहृद-
 यत्वेन शठादिशेषः ” इत्यनेनोक्तम् । वासनदधेति—अन वासनदध्याया ज्येष्ठात्व-
 रत्नावल्याश्च कनिष्ठत्वम् ।

अन्यस्त्रीति—परस्त्री द्विविधा—कन्यका परोदा च, तत्र कन्यकायाः परस्त्रीत्व-
 प्रयोजनमाह—कन्यकेति । परोदा च पुरुषान्तरेण विवाहिता अस्याश्च दृश्यभ्रष्ट-
 भेदेन द्विविधेष्वपि कायेष्वधिकारो नास्तीत्याह—नान्योडेति, अस्त्वैव व्याख्या—इय-
 त्विति । कन्यानुरागस्तत्तद्भूतगृह्णारप्रयुक्तेऽपि भगवत्प्रीतिभूतगृह्णारप्रयुक्तेऽपि
 भवतीत्याह—कन्यानुरागमिति । कुर्यादित्यत्र कचिरिति शेषः ।

इयम्—परोदा । “ प्रधाने रसे ” इत्यस्य “ सन्दर्भे ” इत्यर्थः—परनिष्ठायाः

कन्यका तु पित्राद्यायत्तत्वादपरिणीताप्यन्यर्थात्युच्यते तस्यां पित्रादिभ्यो-
ऽलभ्यमानाया सुलभायामपि-परोपरोधत्वकान्ताभयात्प्रच्छन्नं कामित्वं
प्रवर्तते यथा मालत्या माधवस्य सागरिकाया च वत्सराजस्येति । तदनु-
रागश्च स्वेच्छया प्रधानाप्रधानरससमाश्रयो निबन्धनीयः यथा रत्नावली-
सागानन्दयोः सागरिका-मलयवत्यनुराग इति ।

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥ २१ ॥

तद्व्यवहारो, विस्तरतः शास्त्रान्तरे निर्दिष्टः दिङ्मात्रं तु—

छन्नकाममुस्वार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपपण्डकान् ।

रत्नेव रत्नयेदादद्यान्निःस्वान्मात्रा विवासयेत् ॥ २२ ॥

छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः श्रोत्रियवणिग्लिङ्गिप्रभृतयः, सुप्ता-
र्थः=अप्रयासावाप्तधनः सुरप्रयोजनो वा, अज्ञो मूर्खः, स्वतन्त्रो निरङ्कुशः,
अहंयुरहङ्कृतः, पण्डको वातपण्डादिः, एतान्वहुवित्तान् रत्नेव रत्नयेदुपार्था-
र्थम्=तत्प्रधानत्वात्तद्वृत्तेः, गृहीतार्यान्तुदृष्ट्यादिना निष्कासयेत् पुनः प्रसि-
त्तं प्रधानाय, इदं तासामौत्सर्गिकं रूपम् ।

रूपकेषु तु—

रत्नेव त्वमहसने, नैषा दिव्यनृपाश्रये ।

प्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रत्नैर्वैषा विवेया यथा मृच्छकटिकायां वस-
काभ्येष्वधिकाराभावात् । तस्याम्=वन्यायाम् । परोपरोध=पित्रादिद्वतनिरोध ।
तदनुरागः=वन्यानुरागः ॥ २१ ॥ मालत्या माधवस्य परोपरोधात् सागरिकाया
च वत्सराजस्य स्वकान्ताभयात् प्रच्छन्नरामित्वम् । तत्र सागरिकानुरागः प्रधान-
रस(शङ्कार)समाश्रयः, मलयवत्यनुरागश्चाऽप्रधानरस(शङ्कार)ममाश्रयः
जीमूतवाहनस्य तन्त्र्यनामकस्य प्राधान्येन शान्तरसनायकत्वादिति विवेकः ।

वेद्यामाह—साधारणस्त्रीति ।

तद्व्यवहारः=वेद्याव्यवहारः । पण्डकः=नृपसक । तत्प्रधानत्वात्=धनप्रधान-
त्वात् । तद्वृत्तेः=वेश्यावृत्तेः । पुनरिति=स्वयं निष्कासने पुनः समागमो न संभ-
वति कुट्टिन्यादिद्वारा निष्कासने तु निष्कासितस्य घनलाभे जते तादृशधनप्रदणार्थं
पुनरपि समागमः संभवतीत्यर्थः । तासाम्=वेद्यानाम् । रूपम्=रत्नरूपम् ॥ २२ ॥

एषा=वेद्या । दिव्यो रूपो नायको यत्र तादृशनाटकादौ तु वेश्या नायिका

अथ प्रगल्भा—

यौवनान्धा सरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके ।

विलीयमानेवानन्दोद्गतारम्भेऽप्यचेतना ॥ १८ ॥

गाढयौवना यथा ममैव—

‘ अभ्युन्नतस्तनुरो नयने च दीर्घे

वक्त्रे ध्रुवावतिनरां वचनं ततोऽपि ।

मथ्योऽधिकं तनुरर्तावगुरुर्नितम्बो

मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥ ’

यथा च—

“ स्तनतटमिदमुत्तुङ्गं निम्नो मध्यः समुन्नतं जघनम् ।

विपमे मृगशाबाक्ष्या वपुषि नने क इव न स्पलति ॥ ”

भावप्रगल्भा यथा—

“ न जाने संमुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये ।

सर्वाण्यङ्गानि किं यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम् ॥ ”

रतप्रगल्भा यथा—

“ कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं वन्धना-

द्वासः प्रमथमेदलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम् ।

एतावत्सखि वैशि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः

कोऽसौ कास्मि रतं नु किं कथमिति स्वल्पापि मे ॥ स्मृतिः ॥ ”

एवमन्येऽपि परित्यक्तद्वीयन्त्रणा वैदग्ध्यप्रायाः प्रगल्भाव्यवहारा बेदि-
सभ्याः यथा—

“ कचित्ताम्यूलाक्तः कचिदगरूपद्माकुमलिनः

कचिच्चूर्णोद्गारी कचिदपि च सालक्तः समदः ।

वलीमद्भाभोगैरलकपतितैः क्षीर्णतुसुमैः

स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः ॥ ”

अथास्याः कोपचेष्टा—

सावहित्यादरोदास्ते रतौ, धीरेतरा क्रुधा— ।

संतर्ज्ये गाढयेत्, मध्या मध्याधीरेव तं वदेत् ॥ १९ ॥

सेति—सावहित्यादरा स्तावदासीना चेति भेदद्वयं धीरप्रगल्भायाः ।

धीरेतरा—अधीरप्रगल्भा । मध्या—धीराधीरप्रगल्भा ।

सहावहित्येन=आकारसंवरणेनादरेणच=उपचाराधिक्येन वर्तते सा
सावहित्यादरा, रताबुदासीना क्रुधा=कोपेन भवति ।

सावहित्यादरा यथाऽमरशतके—

“एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमादूरत-

स्ताम्बूलाहरणच्छलेन रमसाश्लेषोऽपि संविभ्रितः ।

आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्याऽन्तिके

कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ॥”

रताबुदासीना यथा—

“आयस्ता कलहं पुरेव कुरुते न स्वसने वाससो

भग्नभ्रूगतिखण्ड्यमानमधरं धत्ते न केशप्रहे ।

अङ्गान्यर्पयति स्वयं भवति नो वामा हठालिङ्गने

तन्व्या शिक्षित एष संप्रति कुतः कोपप्रकारोऽपरः ॥ ”

इतरा त्वधीरप्रगल्भा कुपिता सती संतर्ज्य साड्यति यथामरशतके—

“कोपात्कोमललोलग्राहुलतिकापाशेन बद्धा दृढं

नीत्वा फेलिनिकेतनं दयितया सायं सखीना पुरः ।

भूयोऽप्येयमिति स्वलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं

धन्यो हन्यत एष निहुतिपरः प्रेयान् रुदन्त्या हसन् ॥ ”

धीराधीरप्रगल्भा मध्याधीरेव तं वदति सोऽप्रासवन्तोक्त्या यथा
नत्रैव—

“कोपो यत्र भ्रुवुदिरचना निग्रहो यत्र मौनं

यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः ।

तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातं

त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः सलायाः ॥ ”

पुनश्च—

द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः ।

मध्याप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा
भवन्ति, मुग्धा त्वैरूपैव, ज्येष्ठाकनिष्ठे यथाऽमरशतके—

अधीरप्रगल्भामाह—इतिरेति । ताडयतीत्यत्र प्रियमिति शेषः ।

तम्=नायकम् ॥ १९ ॥

अमुग्धेतिपदं मुग्धातिरिक्तयोर्मध्याप्रगल्भयोर्माहकम् ।

न्तसेना चारुदत्तस्य । प्रहसने त्वरत्तापि हास्यहेतुत्वात् । नाटकादौ तु दिव्यनृपनायके नैव विधेया ।

अथ भेदान्तराणि—

आसामष्टावऽवस्थाः स्युः स्वार्थीनपतिकादिकाः ॥ २.३ ॥

स्वार्थीनपतिका वासकसज्जा विरहोत्कण्ठिता खण्डिता कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितप्रिया अभिसारिकेत्यष्टौ स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्थाः । नायिकाप्रभृतीनामप्यवस्थारूपत्वे सत्यऽवस्थान्तराभिधानं पूर्वासां धर्मित्वप्रतिपादनाय । अष्टाविति न्यूनाधिकव्यवच्छेदः ।

न च वासकसज्जादेः स्वार्थीनपतिकादावन्तर्भावः, अनासन्नप्रियत्वाद्वासकसज्जाया न स्वार्थीनपतितात्वम् । यदिचैष्यत्प्रियापि स्वार्थीनपतिका प्रोषितप्रियापि न पृथग्व्याख्या, न चेतया व्यवधानेनासत्तिरिति नियन्तुं शक्यम् । न चाविदितप्रियव्यलीकायाः खण्डितात्वम् । नापि नैव विधेया=नैव कर्तव्येत्यर्थः । पाठान्तरे प्रहसनेतरे=प्रहसनातिरिक्ते रूपकेऽनुर-
चैव वेद्या नायिका विधेया न त्वनुरागरहितेत्यर्थः ।

एतावत्पर्यन्तमुक्तानां सर्वासामपि नायिकानामष्टौ भेदानाह—आसामिति ।

नायिकाप्रभृतीनामिति—नायिकात्वमप्यवस्थैवेति तादृशनायिकात्वावस्था-
न्तानां यत् स्वार्थीनपतितात्वाद्यवस्थान्तराभिधानं तत् पूर्वोक्तपोडशविधनायिकाणां धर्मित्वप्रतिपादनार्थमित्यर्थः । उक्तावस्थान्तानामेता अवस्था भवन्ती-
तियावत् ।

न चेति—अनासन्नप्रिया हि वासकसज्जा भवति आसन्नप्रिया च स्वार्थीनपति-
केति परस्पर भेदाच्च वासकसज्जादेः स्वार्थीनपतिकादावन्तर्भाव इत्यर्थः । यस्या-
प्रियोऽल्पैर्नैव कालेनागमिष्यति शैष्यत्यतिक्त्वा यथा वासकसज्जादिः । सा यदि स्वा-
धीनपतिका स्यात् तदा प्रोषितप्रियापि स्वार्थीनपतिकैव स्यात् पृथक् न स्यात्
तत्प्रियस्याप्यागमिष्यमाणत्वादित्याह—यदि चेति । ननु प्रोषितप्रियायास्तत्प्रियस्य
च मध्येऽधिकदेशव्यवधानमस्तीति न प्रोषितप्रिया स्वार्थीनपतिका भवितुमर्हति
वासकसज्जादेरेष्यप्रियायास्तत्प्रियस्य च मध्ये तादृशाधिकदेशव्यवधान नास्तीति
वासकसज्जादेः स्वार्थीनपतिकायामन्तर्भावः समवतीत्याशङ्क्याह—न चेत्येति । न
चाऽविदितप्रियव्यलीकायाः खण्डितात्वं भवति किं तु विदितप्रियव्यलीकाया एवे-
त्याह—न चेति । व्यलीकम्=अकार्यं परनायिकासमागम । अन्यकामुकेन सह
कामक्रीदाभिराया मुरतमोनेच्छाजान्ताया वा प्रोषितपतिकात्वं न भवति किं तु

प्रवृत्तरतिभोगेच्छाया प्रोषितप्रियात्वम् । स्वयमगमनाभायक प्रत्यप्रयोज-
कत्वान्नाभिसारिकात्वम् । एवमुत्कण्ठिताप्यन्यैव पूर्वाभ्य । औचित्य-
प्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वासरुसज्जा । तथा विप्रलब्धापि
वासरुसज्जावदन्यैव पूर्वाभ्य,—उक्त्वा नायाव इति प्रतारणाधिक्याश्च
वासरुसज्जोत्कण्ठितयो पृथक् । कल्हान्तरिता तु यद्यपि विदितव्यलीका
सथाप्यगृहीतप्रियानुनया पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा पृथगेव खण्डिताया ।
तन् स्थितमेतदष्टावऽवस्था इति ।

तत्र—

आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वार्थानभर्तृका ।

यथा—

“मा गर्वेमुद्बुद्ध कपोलतले चकास्ति

कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।

अन्यापि किं न सरि भाजनमीदृशाना

वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तराय ॥”

स्वपतिविरहादुल्लासा एवेत्याह—नापीति । नायक प्रति स्वयमगमने तस्या नायि-
कायामभिसारिकात्वप्रयोजकधर्माभावात्तस्या अभिसारिकात्वं न भवति किं तु
नायक प्रति स्वयं गमने एवेत्याह स्वयमिति । किंवा नायक प्रति स्वयमगमे
नायकस्य चाऽनाह्वानेऽभिसारिकात्वं न भवति किं तु नायक प्रति गमनेन वा
नायकस्याह्वानेन याभिसारिकात्वं भवति स्वयमभिसरति नायकमभिसारयति वेत्य-
भिसारिकेत्यर्थः । औचित्यप्राप्तं यत् प्रियागमनं तत्समयस्यातिपुत्त्या—अतिक्रम-
णेन या विधुरा—व्याकुला भवति सा वासरुसज्जा न भवति किं तूक्तेवेत्याह—
औचित्येति । ‘सक्तेतस्थले आगमिष्यामि’ इत्युक्त्वापि यदि प्रियो नाऽऽयाति
सक्तेतस्थले तदा प्रतारणाधिक्यात् सा विप्रलब्धा भवति नैव प्रतारणा-
यामरुसज्जोत्कण्ठितयोर्भवति ते प्रति ‘आगमिमिष्यामि’ इत्युक्त्वाभावा-
दिति वासरुसज्जोत्कण्ठितयो पृथगेव विप्रलब्धेत्याह—तथेति । खण्डिताकल्हान्त-
रितयोर्भेदमाह—कल्हान्तरितेति । न गृहीत प्रियस्यानुनयो यथा सा अगृहीत
प्रियानुनया, प्रियविधूतनविषयकपश्चात्तापेन प्रकाशित स्वकीयप्रसादो यथा सा
पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा । प्रवृत्तप्रतिभादनमुपसहति—तदिति, तत् नामोक्तभे-
दानां कचिदन्तर्भावमाभावात् ॥ २३ ॥

आसन्न—समीपस्थ आयत्त—स्वार्थीनश्च रमणो यस्या साऽऽसन्नायत्तरमणा ।

यथा वासकसज्जा—

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येप्यति प्रिये ॥ २४ ॥

स्वमात्मानं वेश्म च हर्षेण भूषयत्येप्यति प्रिये वासरुसज्जा यथा—

“निजपाणिपल्लवतटस्सलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः ।

अपरा परीक्ष्य शनैर्मुमुदे मुखवासमास्यक्रमलश्वसनैः ॥”

अथ विरहोत्कण्ठिता—

चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मनाः ।

यथा—

“सरित् स विजितो वीणावाद्यैः कयाप्यपरस्त्रिया

पणितमभवत्ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम् ।

कथमितरथा शेफालीषु स्सलल्लसुमास्वपि

प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण बिलम्ब्यते ॥”

अथ लण्डिता—

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्पाकपायिता ॥ २५ ॥

यथा—

“नवनखपदमङ्गं गोपयत्यंशुर्नेन

स्थगयति पुनरोर्ध्वं पाणिना दन्तदष्टम् ।

प्रतिदिशमपरस्त्रिसङ्गर्गसी विसर्पन्

नवपरिमलगन्धः केन शक्यो बरीतुम् ॥”

अथ कलहान्तरिता—

कलहान्तरिताऽमर्पाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।

“एष्यति ” इति सति सप्तमी, अत्र ‘या सा’ इति शेषः ॥ २४ ॥

अव्यलीके=निरपराधे प्रिये चिरयति सति निरपराधोऽपि सन् यदि प्रियो नापाति तदा विरहोत्कण्ठितेत्युच्यते । उन्मना=उत्कण्ठितचिन्ता । प्रिये सव्यलीके तु चिरयति कलहान्तरिता स्यादिति व्यतिरेको विशेषणसार्थक्य च ।

ज्ञातेति—अन्यनायिकायाः सम्भोगेन विकृते नायने ज्ञाते स्त्रीर्षया या कपायिता सा खण्डिता ॥ २५ ॥

कलहेति—अन्यनायिकासम्भोगविरह्यज्ञानजन्याद् अमर्पात्=कोधात् प्रिये

१ ‘विरहोत्कण्ठिता मता’ इति पाठान्तरम् ।

यथा—

“निश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुख नर्तनं दिवं रुद्यते ।
अहं शोषमुपैति पादपतित प्रेयास्तथोपेक्षितः
सस्य क गुणमात्रलभ्य दयिते मानं कथं कारिताः ॥”

अथ विप्रलब्धा—

विप्रलब्धोक्तसमयममाप्तेऽतिरिमानिता ॥ २६ ॥

यथा—

“उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायात ।
याऽनः परमपि जधिर्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥”

अथ प्रोषितप्रिया—

दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया ।

यथाऽमन्त्रतरे—

“आदृष्टिप्रसरात्प्रियस्य पदवीमुर्द्धाक्ष्य निर्दिष्यया
निश्रान्तेषु पथिष्वहःपरिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति ।
दत्तैक सद्युचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियास्मिन्क्षणे
माभूदागत इत्यमन्दबलितप्रीतं पुनर्वीक्षितम् ॥”

अथाभिसारिका—

कामार्ताभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका ॥ २७ ॥

यथाऽमन्त्रतरे—

“अस्मि निहितस्तारे हारः कृता जपने धने
कलत्रलक्ष्मी काश्ची पादौ रणन्मणिनूपुरौ ।
प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहृतडिण्डिमा
यदि विमभिनत्रासोत्कम्पं दिशः समुदीक्षसे ॥”

निधूते—तिरस्कृते सति तदनन्तरं या तादृशतिरस्कारकृत्वाद् अनुगम्येन्यध्याना-
नेन तु मित्रा भवति मा कलहान्तरिना ।

मित्रति—मोतरस्थे संरुक्तिममये प्रियेऽप्राप्ते मन्थमानं प्रप्ता मित्रलब्धा २६

दूरेति—प्रिये कार्यरतेन दूरदेशस्थे सति प्रोषितप्रिया ।

कामेति—या कामार्ता मनी स्वयमभिसरति कान्तं वामिसरति साऽभि-
सारिका ॥ २७ ॥

यथा च—

“न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते ॥ भयि ।
निपुणं तथैतमुपगम्य वेदरभिदूति काचिदिति संदिदिशे ॥”

तत्र—

चिन्तानिःश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूपणैः ।

युक्ताः पडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यमहर्षितैः ॥ २८ ॥

परिचर्यौ तु कन्यकोटे संकेनात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते पश्चाद्विदूषकादिना
सहाभिसरन्त्यावभिसारिके कुतोऽपि संकेतस्यानमप्राप्ते नायके विप्रल-
ब्धे इति कथं वस्था व्यवस्थितैवाऽनयोरिति—अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तग-
योगान् ।

यच्च मालविकाभिनित्रादौ “योऽप्येवं धीरः सोऽपि वृष्टो देव्याः पुरतः”
इति मालविकावचनानन्तरम् “राजा—

दाक्षिण्यं नाम विन्वोष्टि नायकानां कुलद्रवम् ।

तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानियन्धनाः ॥”

इत्यादि, तत्र खण्डितानुनयाभिप्रायेण अपि तु सर्वथा मम देव्यधी-
नत्वमाशङ्क्य निराशा मा भूदिति कन्याविश्रम्भणायेति ।

तथाऽनुपसंज्ञातनायकसमागमाया देशान्तरव्यवधानेऽप्युत्कण्ठितात्व-
मेवेति न प्रीयितप्रियात्वम्—अनायत्तप्रियत्वाच्चेति ।

चिन्तेति—भूयण्यदमत्र शोभादिपर विज्ञेयम्—अभिसारिकादीनामलङ्कार-
तत्त्वसंभवात् तथा चाऽभूयण्युक्ता नाम शोभादिरहिता दीना इति यावत् ।
अन्त्याः पट् विरहोत्कण्ठितादयः । आद्ये द्वे स्वाधीनभर्तृका वासकसजा च ।

कन्यकापरोदयोस्तु विरहोत्कण्ठिताभिसारिकाविप्रलब्धेत्ववस्थान्नमेव मन-
तीत्याह—परिचर्यावित्यादिना । अनयोः—कन्यकोटयोः । उक्तव्यवस्थार्था हे-
तुमाह—अस्वाधीनेति ।

ननु मालविकापि कन्यैव तथा च राजा देव्याः समीपे दृष्ट इति सा खण्डि-
ता जाता अत एव तस्या मालविकाया राजा “दाक्षिण्यं नाम” इत्यादिना-
ऽनुनयोऽपि हृत इति कथं कन्यकापरोदयोरुक्तवस्थान्नयनिषम इत्याशङ्कने—य-
त्थिति । उत्तरमाह—तदिति । स्पष्टमन्यत् ॥ २८ ॥

विशेषान्तरमाह—त्येति । अनायत्तप्रियत्वात्—अस्वाधीनप्रियत्वात् ।

अथासा सहायिन्य —

दूत्यो दासी सर्वा कारुर्घ्याग्नेयी प्रतिवेशिका ।

लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेत्रमित्रगुणान्विताः ॥ २९ ॥

दासी परिचारिका । सर्वा = ज्ञेहनिमद्ध । कारु = रजनीप्रभृति । धात्रे-
यी = उपमातृमुत्रा । प्रतिवेशिका = प्रतिगृहिणी । लिङ्गिनी = भित्तुव्यादिका ।
शिल्पिनी = चित्रकारादिर्घा । स्वय चेति दूतीविशेषा नायकमित्राणा पीठ-
मर्दादीना निस्तृष्टार्थत्वादिना गुणेन युक्ता, तथा च मालतीमाधवे काम-
न्दकीं प्रति—

“शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोध प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी ।

कालानुरोध प्रतिभानवत्त्वमेते गुणा कामदुघा नियामु ॥ ”

तत्र सती यथा—

“मृगशिशुदृशस्तस्यास्ताप कथं कथयामि ते

दहनपतिता दृष्टा मूर्तिर्भया नहि वैरवी ।

इति तु विदित नारीरूप स लोमहृदा मुग्धा

तत्र शठतया क्षिप्तोत्कर्षो विधेर्विचटिष्यते ॥”

यथा च—

“संघ जाणइ ददु सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए रामो ।

भरउ ण तुम भणिस्स भरणं पि सलाइणिज्ज से ॥ ”

आसाम्-उत्तनायिगानाम् ।

निस्तृष्टार्थत्वादिनेति—प्रेमभाभिप्राय ज्ञात्वा ये प्रतिवक्तव्यं तत्समीपे गत्या
यत् स्वय तदुक्तयवनानामुत्पन्नदानं तद् निस्तृष्टार्थत्वं गुण उक्तं च—

“निस्तृष्टार्थो मितार्थश्च तथा भेदसाधारकः ।

कार्यप्रेष्यतिषा दूतो दूत्यभाषि तथा त्रिषा ॥ ”

“उभयोर्भाष्यमुत्तरीय स्वयं वदति चोत्तरम् ।

मुक्तिं युक्ते कर्म निस्तृष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥ ”

“धीर स्थिरमतिः पूर सामिकार्यविषादकः ।

स्वकीयप्रकाशी च निस्तृष्टार्थः स उच्यते ॥ ” इति ।

१ “शब्दं जानाति द्रष्टुं सहस्रो जने युज्यत रायः ।

मित्रतां च त्वा भणिष्यामि भरणं च श्लाघनीयमप्य ॥ ” इति

स्वयं दूती यथा—

“मेहु एहि किं निवालज हरसि निजं वाउ जइ वि मे सिचजम् ।

साहेमि कस्स सुन्दर दूरे गामो अहं एक्का”

इत्याद्यहम् ।

अथ योषिदलङ्काराः—

यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलङ्कारास्तु विंशतिः ।

यौवने सत्त्वोद्भूता विंशतिरलङ्काराः स्त्रीणां भवन्ति ।

तत्र—

भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजाः ॥ ३० ॥

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।

औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्रजाः ॥ ३१ ॥

तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः, शोभा कान्तिर्दीप्तिर्माधुर्यं प्रागल्भ्य-
मौदार्यं धैर्यमित्ययत्रजाः सप्त ।

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।

मोहायितं कुटुमितं विव्वोको ललितं तथा ॥ ३२ ॥

विदुतं चेति विज्ञेया दश भावाः स्वभावजाः ।

तानेव निर्दिशति—

निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥ ३३ ॥

तत्र विकारहेतौ सत्यप्यविकारं सत्त्वं यथा कुमारसंभवे—

“श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो धभूव ।

आत्मेधराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥”

तस्मादविकाररूपात्सत्त्वाद् यः प्रथमो विकारोऽन्तर्विपरिवर्तो बीजस्योच्छ्र-
नतेव स भावः । यथा—

तत्र=मनसि । अविकाररूपम्=विकार कामाद्यावेशमप्राप्तं मनः सत्त्वमित्युच्यते
तदुक्तम्—“रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते” इति श्रुताप्सरोगीतिः ॥
इति सत्त्वमात्रस्योदाहरणम् ।

बीजस्येति—बीजस्य मृत्मलिलसंयोगेनाङ्कुरोत्पत्तेः पूर्वं यः स्यौत्वादित्यङ्गो

१ = मुहुरेहि किं निवारक हरसि निजं वावो यदपि मे सिचयम् ।

साधयामि कस्स सुन्दर दूरे ग्रामोऽहमेवा ॥” इति च्छाया ।

“ दृष्टिः सालसतां विभर्ति न शिशुर्बाडासु वद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसर्पसंभोगवार्तास्वपि । ”

पुंसामङ्गमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा

याला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥ ”

यथा वा कुमारसंभवे—

“ हरस्तु किञ्चित्परिलुप्यैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।

उमासुरे विभ्यफलाघरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ ”

यथा वा ममैव—

‘ तं ’ शिञ्ज वज्रं ते श्वेज लोअणे जोव्यणं पि सं श्वेज ।

अण्णा अणङ्गलच्छी अण्णं शिञ्ज किं पि साहेइ ॥ ’

अथ हावः—

अल्पालापः सगृङ्गारो हावोऽक्षिभूविकारकृत् ।

प्रतिनियताङ्गविकारकारी शृङ्गारः स्वभावविशेषो हावः यथा ममैव—

‘ जं किं पि पेच्छमाणं भणमाणं रे जहातह्वेज ।

णिज्झाअ णेहमुद्धं वअस्स मुद्धं णिअच्छेहि ॥ ’

अथ हेला—

स एव हेला सुव्यक्तगृङ्गाररससूचिका ॥ ३४ ॥

हाव एव स्पष्टभूयोविकारत्वात्सुव्यक्तशृङ्गाररससूचको हेला यथा
ममैव—

विकारः स उच्छूनतापदेन बोध्यलाहस्योच्छूनतावस्थायां बीजस्यास्त एव वि-
विकारो भवति न बहिरिति तादृश एव भावपदार्थो निश्चयः ॥ ३३ ॥

अक्षिभूविकारकारी सगृङ्गारः—गृङ्गाररगहितोऽल्पालापः हाव इत्यर्थः । अथ-
“ अल्पालापः ॥ ” इत्यत्र “ हेवाकिन ” इत्यपि पाठस्तत्र प्रतिनियताङ्गविकारो
हेवाकस्तद्वान् हेवाकी तस्येत्यर्थः । प्रतिनियतमङ्गविकारं करोति प्रतिनियतोऽङ्ग-
गु विकारं करोतीति या प्रतिनियताङ्गविकारकारी न भुञ्जलाङ्गविकारकारीत्यर्थः,
यथात्र अस्यादिषु विकार उक्तः । भावपदार्थोऽभिप्रायस्तथा हाव इति यावत् ।

१ “ तदेव वचनं ते श्वेज लोचने यौवनमपि तदेव ।

अन्यानत्रतन्भीरन्वदेव किमपि ताभयनि ॥ ” इति श्लाघा ।

२ “ यत्किमपि प्रेक्षमाणा भगवान्नां रे वयातपेव ।

निध्यां श्वेहमुग्धा वदस्व मुग्धा पदय ॥ ” इति श्लाघा ।

‘तेह क्षात्ति से पअत्ता सअयद्धं विअममा वणुअेए ।
संसइअणालमावा होइ चिरं जह सहीणं पि ॥’

अयायन्नजाः सप्त तत्र शोभा—

रूपोपभोगतारुण्यैः शोभाङ्गानां विभूषणम् ।

यथा कुमारसंभवे—

“तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य घालां क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निपण्णाः ।
भूतार्थशोभाहियमाणनेत्राः प्रसाधने संनिहितेऽपि नार्यः ॥”
इत्यादि । यथा च शाकुन्तले—

“अनाघातं पुष्पं कितलयमल्लनं कररुहै-

रनाविद्धं गन्धं मधु नवमऽनास्वादितरसम् ।

अलण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं

न जाने भोत्तारं कमिह समुपस्थास्यति त्रिधिः ॥”

अथ कान्तिः—

मन्मथावापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ॥ ३५ ॥

शोभैव रागावतारघनीकृता कान्तिः यथा—

“उन्मीलद्बदनेन्दुदीप्तिविसैरदूरे समुत्सारितं
भिन्नं पीनकुचस्यलस्य च रचा हस्तप्रभाभिर्हृतम् ।

एतस्याः कलविद्वक्कण्ठरुदलीकृत्यं मिलत्कौतुका-

दप्राप्ताङ्गसुरलं रूपेन सहसा केशेषु छप्रं तमः ॥”

यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टनाणस्य ।

अथ माधुर्यम्—

अनुत्पणत्वं माधुर्यम्,

मन्मथेति—मन्मथेनाऽऽवापिता=घनीकृता छाया=कान्तिर्यस्या सादृशी शोभैव
कान्तिरित्युच्यते । “मन्मथाप्यामिता च्छाया” इतिपाठे तु मन्मथेन=रामवि-
कारेणाऽप्यामिता मुक्ता छाया=कान्तिर्यस्यामित्यर्थः ॥ ३५ ॥

अनुत्पणत्वं च=रमणीयता । उक्तं च “सर्वावस्थानिरोधेषु माधुर्यं रमणीयता ।”
इति ।

१ “तथा शट्पिरवाः प्रवृत्ताः सर्वाश्च विभ्रमाः स्तनोद्वेदे ।

संशयितवासभावा भवति चिरं यथा सजीनामपि ॥” इति च्छाया ।

२ “मन्मथाप्यामिता” इति पाठान्तरम् ।

यथा शाकुन्तले—

“सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमाशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाट्यतीनाम् ॥”

अथ दीप्तिः—

दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।

यथा—

“देआ पसिअ णिअन्तेमुमुहससिजोण्हाविणुत्ततमणिजहे ।
अहिसारिआण विग्घं करेसि अण्णाण विहासे ॥”

अथ प्रागल्भ्यम्—

निःसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्,

मनःक्षोभपूर्वकोऽद्भुतादः साध्वसं तदभावः प्रागल्भ्यं यथा ममैव—
‘तथा ग्रीहाविक्रियापि तथा मुग्धापि मुन्दरी ।
फलाप्रयोगचातुर्ये सभास्वाचार्यकं गता ॥’

अथौदार्यम्—

औदार्यं मथ्रयः सदा ॥ ३६ ॥

यथा—

“दिअहं खु दुक्खिआए सअलं काऊण गेहवावारम् ।

“ दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तर ” इत्यत्र “ दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तृतिः ” इत्येव
वचनं विस्तरशब्दस्य शब्दविलुतिपरत्वात् तदुक्तम्—“ विस्तारो विग्रहो ध्यान
स च शब्दस्य विस्तर ” इति ।

अद्भुतादः—अद्भुतस्य मुग्धादेः साद—अवगाद स्थानता । निर्वर्त साध्वसं
यस्मात् स निस्साध्वसस्तस्य भावो निस्साध्वसत्वं तदेव प्रागल्भ्यम् । उदाहरणं
तु ॥ समवेतार्थमित्यन्यत्र द्रष्टव्यम् ।

प्रभय—त्रेम आनुसृत्यमिति यावत् ॥ ३६ ॥

१ “देवार्हा नितान्तमुमुहससिजोण्हाविणुत्ततमणिजहे ।

अभिगारिआणा विग्घं करोण्णयाणा विहासे ॥” इति च्छंया ।

२ “दिवसं यत्तु दु रितायाः सचरं वृत्ता गृह्यसारम् ।

गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥”

यथा वा—“ भ्रूभङ्गे सहसोद्वता ” इत्यादि ।

अथ धैर्यम्—

चापलाऽविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकल्थना ।

चापलानुपहता मनोवृत्तिरात्ममुणानामऽनाख्यायिका धैर्यमिति यथा
मालतीमाधवे—

“ ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावरण्डकलः शर्शा

दहतु मदनः किं वा मृत्योः परेण विधास्यति ।

गम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यऽमलान्वया

जुल्लममलिनं न त्वेनायं जनो न च जीवितम् ॥”

अथ स्वाभाविका दश तत्र—

प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ३७ ॥

प्रियकृतानां वाग्नेपचेष्टानां शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिरनुकरणं लीला
यथा भमैव—

‘ तदं दिदृष्टं तद् भणिमं तापे निअदं तद्वा तद्वासीणम् ।

अबल्लोड्ढं सइण्हं सविम्भमं जह सवत्तीहिं ॥ ’

यथा वा—“ तेनोदितं वदति याति यथा यथासौ ” इत्यादि ।

अथ विलासः—

तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु ।

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियायां वचने च साविशयविशेषोत्पत्ति-
र्विलासः यथा मालतीमाधवे—

चापलेन चापव्येन विहता न भयनीति चापलाऽविहता । चापलानुपहता=
चापव्येन रहिता गर्भरिति यावत् । अनाख्यायिका=रस्यै रग्यनाऽननुवृत्त्या ।

मधुरिर्मनोरसैरङ्गविचेष्टितैः प्रियानुकरणं लीला ॥ ३७ ॥

तात्कालिकः=दयितावलोकनादिकालिकः ।

गुरुष्वपि मनुदु खं भरिमा पादन्ते शुभस्य ॥” इति षष्ठाया ।

१ “ तथा ॥ तथा भणितं तथा निदितं तथा तथापीनम् ।

अवनोदितं सतृणं सविभ्रमं यथा वपनीभिः ॥ ” इति षष्ठाया ।

“अग्रान्तरे किमपि धाविभवातिवृत्त-
 वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
 तद्गूरिसात्त्विकविकारविशेषस्त्य-
 माचार्यकं विजयि मान्मयमाविरासीत् ॥”

अथ विच्छिन्तिः—

आकल्परचनाऽप्यपि विच्छिन्तिः कान्तिपोषकः ॥ ३८ ॥
 स्तोत्रोऽपि वेपोऽयुतरकम्नीयताकारी विच्छिन्तिः यथा कुमारसंभवे—
 “कर्णार्पितो रोध्रकपायस्त्रे गोरोचनाभेदनिवान्तगौरे ।
 तस्याः कपोले परभागलाभाद्भवन् चक्षुषि यवप्ररोहः ॥”

अथ विभ्रमः—

विभ्रमस्त्वरया काले भूपास्थानविपर्ययः ।

यथा—

“अभ्युदितं क्षशिनि पेशलकान्तदूर्ता-
 संलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।
 अप्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूपा-
 विन्यासहासितसर्वाजनमङ्गनाभिः ॥”

यथा नानामैव—

“श्रुत्वायातं यहिः कान्तमसमाप्तविभूषया ।
 भालेऽर्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः दृष्टः ॥”

अथ किलकिञ्चितम्—

क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः संकरः किलकिञ्चितम् ॥ ३९ ॥

यथा समैव—

“रतिव्रीडादृते कथमपि समासाद्य समयं
 मया लब्धे तस्याः कणितकलकण्ठार्धमधरे ।
 कृतधूमङ्गासौ प्रकटितविलक्षार्थरुदित-
 स्मितक्रोधोद्गान्तं पुनरपि विदध्यान्मयि मुखम् ॥”

आकल्परचनाऽन्वेषरचना ॥ ३८ ॥

भूपास्थानविपर्यय इति—अन्यत्रारोपणीयस्यान्यत्रारोपः स्थानविपर्ययः ॥ ३९ ॥

अथ मोहायितम्—

मोहायितं तु तद्भावभावनेष्टक्यादिषु ।

इष्टक्यादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तःकर-
णत्वं मोहायितं यथा पद्मगुप्तस्य—

“ चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।

ग्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ॥ ”

यथा वा—

■ मातः कं हृदये निधाय सुचिरं रोमाञ्चिताङ्गी मुहु-

र्जृम्भामन्यरतारकां सुललितापाङ्गां दधाना दृशम् ।

सुमेवाल्लिखितेन शून्यहृदया लेखावशेषीभव-

स्यात्मद्रोहिणि किं द्विया कथय मे गृहो निहन्ति स्मरः ॥”

यथा वा समैव—

‘ स्मरदवधुनिमित्तं गृहमुन्नेतुमस्याः

सुभग तव कथायां प्रस्तुतायां सखीभिः ।

भवति किततपृष्ठोदस्तपीनस्तनामा

ततवलयितबाहुर्जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः ॥ ’

अथ कुट्टमितम्—

सानन्दान्तः कुट्टमितं कुप्येत्केशाध्वग्रहे ॥ ४० ॥

यथा—

“ नान्दीपदानि रतिनाटकविध्रमाणा-

माक्षाक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य ।

दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुत्वाप्रपाणेः

सीत्कारशुष्करुदितानि जयन्ति नार्याः ॥ ”

अथ विज्योक्तः—

गर्वाभिमानादिष्टेऽपि विज्योक्तोऽनादरक्रिया ।

तद्भावेन भावना तद्भावभावना प्रियतमैकताननेत्यर्थः । इष्टक्यादिषु=
प्रियक्यादिषु ।

पेशाध्वग्रहे कृते यः सानन्दान्तःकरणाया अपि कोपः स कुट्टमितम् । सान-
न्दान्त इति त्रियाविशेषणम् ॥ ४० ॥

■ गर्वाभिमानात् ” इत्यत्र ‘ रूपाभिमानात् ’ इति युक्तं स्यात् । किं वा

यथा ममैव—

‘ सव्याजं तिलकालकान्विरलयंलोलाङ्गुलि संस्पृशन्
वारवारमुदञ्चयन्कुचयुगप्रोदञ्चिनीलाञ्चलम् ।

यद्भूमद्भूतरङ्गिताञ्चितदृशा सावज्ञमालोकितां
वदूर्वादवर्धारितोऽस्मि न पुन कान्ते कृतार्थोऽकृत ॥ ”

अथ ललितम्—

मुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ॥ ४१ ॥

यथा ममैव—

‘ सभूमङ्गं करकिसलयावर्तेनैराल्पन्ती

सा पश्यन्ती ललितललितं लोचनस्याञ्चलेन ।

विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वैरयातै-

र्नि सगीत प्रथमवयसा नर्तिता पङ्कजाक्षी ?

अथ विहृतम्—

माप्तकालं न यद् व्रूयाद्गीडया विहृतं हि तत् ।

प्राप्तावसरस्यापि वाक्यस्य लञ्जया यदबचन तद्विहृतं यथा—

“ पादाङ्गुष्ठेन भूमिं किसलयरुचिना सापदेशं लिखन्ती

भूयो भूय क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचने लोलतारे ।

वक्त्रः हीनम्रमीपत्स्फुरदधरपुट वाक्यगर्भं दधाना

यन्मा नोवाच किञ्चित्स्थितमपि हृदये मानसं तदुनोति ॥ ”

अथ नेतु कार्यान्तरसहायानाह—

मन्त्री स्वं बोधय वापि सत्त्वा तत्सार्थचिन्तने ॥ ४२ ॥

तस्य नेतुरर्थचिन्ताया तन्त्रावापादिलक्षणाया मन्त्री वाऽऽत्मा बोधय
वा सहाय ।

तत्र विभागमाह—

मन्त्रिणा ललितः, शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः ।

रूपादेर्गर्वं यौवनादेश्चाभिमानस्ताभ्याम् ।

मुकुमारो मसृण-स्त्रिग्वश्चाङ्गविन्यासो रलितम् ॥ ४१ ॥

तन्त्रेति—स्वराज्ये क्रियमाणं कर्म तन्त्रम्, परराज्ये क्रियमाणं गूढचारप्रवर्णना
दिलक्षणं कर्माऽऽवाप, आदिना शत्रुनिग्रहादयो माह्वा ॥ ४२ ॥

उत्कलक्षणो ललितो नेता मन्त्र्यायत्तसिद्धिः । शेषा धीरोदात्तादयः
अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन बोभयेन वाङ्मौक्तसिद्धय इति ।

धर्मसहायास्तु—

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥ ४३ ॥

ब्रह्म-वेदस्तं वदन्ति व्याचक्षते वा तच्छीला ब्रह्मवादिनः आत्मज्ञा-
निनो वा, शेषाः प्रतीताः ।

दुष्टदमनं दण्डः तत्सहायास्तु—

सुहृत्कुमारादविका दण्डे सामन्तसैनिकाः ।

स्पष्टम् । एवं तत्तत्कार्यान्तरेषु सहायान्तगणि योज्यानि, यदाह—

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥ ४४ ॥

म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः ।

शकारो राज्ञः श्यालो हीनजातिः ।

विशेषान्तरमाह—

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ॥ ४५ ॥

तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ।

एवं प्रागुक्तानां नायकनायिकादूतदूतीमन्त्रिपुरोहितादीनामुत्तममध्य-
माधमभावेन त्रिरूपता, उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपध्यापचयेन किं
तर्हि ? गुणातिशयतारतम्येन ।

एवं नाट्ये विधातव्यो नायकः सैपरिच्छदः ॥ ४६ ॥

उक्तो नायकः, तद्व्यापारस्तूच्यते—

तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा, तत्र कैशिकी ।

गीतनृत्यविलासार्थमृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ॥ ४७ ॥

प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः सा च कैशिकी-सात्त्वती-आर-

कुमारः=युवराजः । अटव्यां भव आटविकः=अरण्यनिवासी नरः ।

वर्षवराः=वृष्टाः ॥ ४४ ॥

नेतृव्यापारस्वभावः=नायकस्य व्यापारानुसृतः स्वभावो वृत्तिः ।

भटी-भारतभिदाश्चतुर्विधा, तासां गीतनृत्यविलासकामोपभोगाद्युपलक्ष्य-
माणो मृदुः शृङ्गारी कामफलावच्छिन्नो व्यापारः कैशिकी सा तु—

नर्मतस्फिञ्जतस्फोटतद्भैश्चतुरङ्गिका ।

तदित्यनेन सर्वत्र नर्म परामृश्यते ।

तत्र—

वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म मियोपच्छन्दनात्मकम् ॥ ४८ ॥

हास्येनैव सशृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा ।

आत्मोपक्षेपसंभोगमानैः शृङ्गार्यपि त्रिधा ॥ ४९ ॥

शुद्धमङ्गं भयं द्वेधा त्रैधा वाग्नेपचेष्टितैः ।

सर्वं महास्यमित्येवं नर्माष्टादशयोदितम् ॥ ५० ॥

अप्राम्य इष्टजनावर्जनरूप. परिहासो नर्म तच्च शुद्धहास्येन सशृङ्गार-
हास्येन सभयहास्येन च रचितं त्रिविधम्, शृङ्गारवदपि स्वानुरागानिवे-
दन-संभोगेच्छाप्रकाशन-सापराधप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव, भयनमपि
शुद्धरसान्तराङ्गभावाद्विविधम्, एवं पङ्क्तिष्वस्य प्रत्येक वाग्नेपचेष्टाद्यतिक-
रेणाष्टादशविधत्वम् ।

तासामिति—तामा चतुर्विधगुणीनां मध्ये इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

सा=कैशिकी ।

सर्वेति—तथा च १ नर्म २ नर्मस्फिञ्ज ३ नर्मस्फोटः ४ नर्मगर्भ, इति
कैशिक्या अङ्गानि ।

प्रियेति—प्रियाया उपच्छन्दनम्=चित्तविनोदकारी व्यापारस्तदात्मकं यद्
वैदग्ध्येन क्रीडितं तत् नर्म, तस्य च नर्मणो हास्येनैव=केवलहास्येन जायमा-
नस्य १ एको भेदः, सशृङ्गारहास्येन=शृङ्गारहास्याभ्यां जायमानस्य ३ त्रयो भेदा
भवन्ति—तत्र आत्मोपक्षेपेण=स्वानुरागानिवेदनेनैकः, संभोगेन=संभोगेच्छाप्रका-
शनेन द्वितीयः, मानेन=सापराधप्रियप्रतिभेदनेन=सापराधप्रियवृत्तमानापनोदनेन
च तृतीयो भेद इति शृङ्गारि=शृङ्गारसहितं नर्म त्रिधा । भयं च क्वचिच्छुद्ध-
क्वचिदङ्गभूतमिति भयनमपि=सभयहास्येन जायमानमपि नर्म शुद्धत्वात्=भयस्य
प्रधानत्वात् भयस्य रसान्तरेऽङ्गभावाच्च द्विविधमिति २ द्वौ भेदौ, एते च मिति-
त्वा भेदा षट् संख्याका जाता । तत्रापि वाग्नेपचेष्टितै=वचनेन वेशेन चेष्टया
च जायमानत्वात् षड्भेदानां त्रैविध्येन महास्य सर्वं नर्म अष्टादशीरपि
जातमित्यन्वयः ॥ ४८-५० ॥

तत्र वचोहास्यनर्म यथा—

“पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।

सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥”

वेपनर्म यथा नागानन्दे विदूषकशेखरकव्यतिकरे । क्रियानर्म यथा मालविकाग्निमित्र उत्सवप्रायमानस्य विदूषकस्योपरि निपुणिका सर्पश्रम-
कारणं दण्डकाष्ठं पातयति । एवं वक्ष्यमाणेष्वपि वाग्नेपचेष्टापरत्वमुदा-
हार्यम् ।

शृङ्गारवदाल्मोपक्षेपनर्म यथा—

“मध्याह्नं गमय त्वज्ज अमज्जलं स्थित्वा पयः पीयतां

मा शून्येति विमुञ्च पान्थ विवशः शीतः प्रपामण्डपः ।

तामेव स्मर घस्मरस्मरशरत्रस्तां निजप्रेयसी

त्वचित्तं तु न रञ्जयन्ति पथिक प्रायः प्रपापालिकाः ॥”

संभोगनर्म यथा—

“सालोए बिअ सूरै घरिणी घरसामिअस्स धेत्तूण ।

णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥”

माननर्म यथा—

“तद्वितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति

प्रियजनपरिभुक्तं बहुमूलं दधानः ।

मदधिवर्मातिमाणाः कामिनां मण्डनश्री-

र्ध्वजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥”

भयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनावसरे—“सुसंगता—जाणिदो
मए एसो सज्जो बुत्तन्तो सर्म चित्तफलहण्ण ता देवीए णिवेदइस्सम् ॥”
इत्यादि ।

शृङ्गाराङ्गं भयनर्म यथा ममैव—

‘अभिव्यक्तार्त्ताकः सकलविफलोपायविभ्र-

श्चिरं प्यात्वा सद्यः शृतशृतसंरम्भनिपुणम् ।

१ “सालोहे एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीता ।

अनिच्छतोऽपि पादौ पुनोति हसन्ती हसतः ॥” इति चट्टाया ।

२ “ज्ञातो मदेव सर्वो वृत्तान्तः सह विनयकलेन तोष्ये निवेदयिष्यामि ॥”

इति चट्टाया ।

इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति संत्रास्य सहसा
कृताश्लेषं धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति बधूम् ।

अथ नर्मस्फुञ्जः—

नर्मस्फुञ्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमे ।

यथा मालविकाग्निमित्रे संकेते नायकमभिसृतायां नायिकायां नायकः—

“विस्तृतं सुन्दरि संगमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।

परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्कलताचरितं मयि ॥

मालविका—भेदा देवाए भयेण अत्तणो वि पिअं काउं ण पारेमि”
इत्यादि ।

अथ नर्मस्फोटः—

नर्मस्फोटस्तु भावानां मूचितोऽल्परसो लवैः ॥ ५१ ॥

यथा मालतीमाधवे—“मकरन्दः—

गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं

श्वसितमधिकं किं न्वेतस्यात्किमन्यदतोऽथ ना ।

भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं

ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥”

इत्यत्र गमनादिभिर्भावलेदोर्माधवस्य मालत्यामनुरागः श्लोकः प्रकाशयते ।

अथ नर्मगर्भः—

छन्ननेतृमतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे ।

अङ्गः सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषात्र कैशिकी ॥ ५२ ॥

नवसंगमे=प्रथमसमागमे यत्रारम्भे सुखमन्ते च भय भवति स नर्मस्फुञ्जः ।

भावानां लवैः=अल्पैः सात्त्विकादिभावैः अल्परसः=विचिदनुरागः मूचितो

भवति यत्र स नर्मस्फोटः ॥ ५१ ॥

छन्नेति—अर्थहेतवे=विचित्रयोजनाय नायकस्य यः प्रच्छन्नः प्रचारः=प्रवेशः

स नर्मगर्भः ।

उपपादिता साक्षा कैशिकीमुपसहरति—अङ्गेरिति, सहास्यैर्निर्हास्यैरेभिरङ्गे-

रेषात्र कैशिकी वृत्तिः प्रतिपादितेत्यर्थः

१ “भर्तः देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रिय कर्तुं न पारयामि ।” इति च्छाया ।

यथाऽमरुशतके—

“ दृष्टैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।

ईषद्विक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोद्धसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥ ”

यथा (च) प्रियदर्शिकायां गर्भाङ्गे वत्सराजवेषमुर्मंगनास्थाने साक्षा-
द्वत्सराजप्रवेशः ।

अथ सात्त्वती—

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।

संलापोत्थापकावस्यां साङ्घात्यः परिवर्तकः ॥ ५३ ॥

शोकहीनः सत्त्वशौर्यत्यागदयार्हर्षादिभावोत्तरो नायकव्यापारः सा-
त्त्वती तदङ्गानि च संलापोत्थापकसाङ्घात्यपरिवर्तकाख्यानि ।

तत्र—

संलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः ।

यथा वीरचरिते—“ रामः—अयं स यः किल सपरिवारकार्तिकेयवि-
जयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसद्वृत्तान्तेवासिने तुभ्यं
प्रसादीकृतः परशुः ? परशुपमः—राम राम दाशरथे ! एवायमा-
चार्यपादानां मिथः परशुः ।

शस्त्रप्रयोगखुरलीकल्ले गणानां

सैन्यैर्वृतो विजित एव मया कुमारः ।

एवावतापि परिरभ्य कृतप्रसादः

प्रादाद्भुं प्रियगुणो भगवान्गुर्मे ॥ ”

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योन्यागभीरवचसा संलाप-
इति ।

अथोत्थापकः—

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम् ॥ ५४ ॥

नर्मगर्भमुदाहरति—इदृति ।

वत्सराजवेषमुर्मंगनास्थाने=वत्सराजवेषविशिष्टमुर्मंगनास्थाने ॥ ५२ ॥

हर्षादिभावोत्तरो=हर्षादिभावप्रधानः ॥ ५३ ॥

“ मलय इति ” इत्यस्यान्ते ‘ संलापकः ’ इति शेषः ।

उत्थापयेत्=येरयेत् । परम्=प्रतिस्पर्धिनम् ॥ ५४ ॥

यथा वीरचरिते—

“आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैनृप्यं नु कुतोऽयं संप्रति मम त्वदर्शने चक्षुषः ।
त्वत्सांगत्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै-
रस्मिन्विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जम्भताम् ॥”

अथ साक्षात्—

मन्त्रार्थद्वैवशक्त्यादेः साङ्ख्यतयः सङ्ख्यभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायार्थानां चाणक्येन स्वबुद्ध्या
भेदनम् । अर्थशक्त्या तत्रैव यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहन्तगमनेन मल-
यकेतुसहोत्थायिभेदनम् । वैवशक्त्या तु यथा रामायणे रामस्य द्वैवशक्त्या
रावणादिभीषणस्य भेद इत्यादि ।

अथ परिवर्तकः—

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तकः ॥ ५५ ॥

प्रस्तुतस्योद्योगकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरणं परिवर्तकः यथा
वीरचरिते—

“हेरम्बदन्तमुसलोद्दिरितैकभिषि

वक्षो विशाखविशिखघ्नणलाञ्छनं मे ।

रोमाश्वकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद्

यत्सत्यमय परिरघुमिवेच्छति त्वाम् ॥

रामः—भगवन् ! परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतत् ॥” इत्यादि ।

सात्त्वतीमुपसंहरन्नाऽऽरभटीलक्षणमाह—

एभिरङ्गैश्चतुर्थेयं सात्त्वत्याऽऽरभटी पुनः ।

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्धान्तादिचेष्टितैः ॥ ५६ ॥

संक्षिप्तिका स्यात्संफेदो वस्तूत्थानावपातने ।

मन्त्रपदेनात्र राजनीत्यङ्गभूतां गुप्तवादो ग्राह्यः ।

प्रारब्धात्=समारब्धाद् उत्थानकार्यात्=पौरुषकार्याद् युद्धादेर्यदन्यस्य=तद-
विरुद्धस्य प्रीत्यानुकूल्यादेः करण संपादनं तत् परिवर्तकः, परिवर्तनमिति ।
यान् ॥ ५५ ॥

आरभटीति—मायेन्द्रजालादिर्चोष्टैरारभटी भवतीत्यर्थः

अस्या आरभट्याः संक्षिप्तिकाप्रभृतीनि चत्वारि अङ्गानि ।

माया=मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनम्, तन्त्रबलादिन्द्रजालम् ।

तत्र—

संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥ ५७ ॥

पूर्वनेवनिवृत्त्यान्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः ।

मृदंशदलचर्मादिद्रव्ययोगेन वस्तुत्थापनं संक्षिप्तिः यथोदयनचरिते किलिञ्जहस्तिप्रयोगः । पूर्वनायकावस्थानिवृत्त्यावस्थान्तरपरिमहमन्ये संक्षिप्तिः कान्तिः । यथा बालिनिवृत्त्या सुग्रीवः यथा च परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम् “पुण्या प्राज्ञाणां जातिः—” इत्यादिना ।

अथ संकेतः—

संफेदस्तु समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयोः ॥ ५८ ॥

यथा माधवाऽघोरघण्टयोर्मालतीमाधवे । इन्द्रजित्क्षमणयोश्च रामायण-प्रतिबद्धवस्तुषु ।

अथ वस्तुत्थापनम्—

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तुत्थापनमिष्यते ।

यथोदात्तराघवे—

“जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरप्रातैर्विवद्व्यापिभि-

र्भास्वन्तः सकला रवेरपि रुचः कस्मादकस्मादमी ।

एताश्चोष्मकग्रन्धग्रन्धगन्धिरैराभ्यायमानोदरा

मुश्वन्त्याननरुन्दरानलमितस्तीव्राऽऽरवाः फेरवाः ॥”

इत्यादि ।

तन्नेति—तन्त्रबलादविद्यमानवस्तुप्रकाशनमिन्द्रजालमित्यर्थः ॥ ५६ ॥

संक्षिप्तिर्याया मत्तान्तरेण लक्षणमाह—पूर्वेति ।

वस्तुत्थापनम्=वस्तुनिर्माणम् ।

पूर्वनायनेति—पूर्वनायकनिवृत्त्या नायगान्तरपरिग्रहः, पूर्वावस्थानिवृत्त्याऽऽवस्थान्तरपरिमहमन्येऽर्थः । यथाऽमनुदाहरणम् । अत्र “अवस्थान्तरपरिमहम्” इत्यत्र “नायकावस्थान्तरपरिमहम्” इत्येवं पाठो शुचो येन “यथा बालिनिवृत्त्या सुग्रीवः” इत्यत्र इत्यन्व मुपायेत । मृदवास्व मु नायगान्तरपरिमहे एव तात्पर्यम् । अवस्थान्तरपरिमहम् प्रवृत्तानुसृतः प्रतिभाति ।

समाघातः=परस्परमधिकारेणः ।

रामायणप्रतिबद्धवस्तुषु=रामायणोक्तचरित्रेषु ॥ ५८ ॥

अथाऽवपातः—

अवपातस्तु निष्कामप्रवेशत्रासविद्रवैः ॥ ५९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

“कण्ठे कृत्वावशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्पणं
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलावलचरणवलत्किङ्किणीचक्रवालः ।
दत्तासत्त्वो गजानामनुसृतसरणिः संध्रमादश्वपालैः
प्रध्रष्टोऽयं पूवङ्गः प्रविशति नृप्तेर्मन्दिरं मन्दुरातः ॥
नष्टं सर्ववैर्मनुष्याणनाभाषादकृत्वा त्रपा-
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुम्य विशति त्रासादयं वासनः ।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाग्नः किरातैः कृतं
कुञ्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेश्वणाशङ्कितः ॥”

यथा च प्रियदर्शनायां (प्रियदर्शिकायाम्) प्रथमेऽङ्के विन्ध्यकेतव-
वस्कन्दे ।

उपसंहरति—

एभिरङ्गैश्चतुर्भेयम्, नार्थवृत्तिरतः परा ।

चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे ॥ ६० ॥

कौशिकी सात्त्वती चार्थवृत्तिमारभतीमिति ।

पठन्तः पञ्चमी वृत्तिमौद्गताः प्रतिजानन्ते ॥ ६१ ॥

सा तु लक्ष्ये कचिदपि न दृश्यते न चोपपद्यते रसेषु हास्यादीनां
भारत्यात्मकत्वात् नीरसस्य च काव्यार्थस्याभावात् तिस्र एवेता अर्थवृ-
त्तयः । भारती तु शब्दवृत्तिरासुराङ्गत्वात्तत्रैव वाच्या ।

वृत्तिनियममाह—

शृङ्गारे कौशिकी, वीरे सात्त्वत्याऽऽरभती पुनः—।

रसे रौद्रे च वीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥ ६२ ॥

अवपात इति—वस्यचिद् निष्कामप्रवेशार्थं अन्येन त्रासेन=भयेन यो विद्रवः=
पलायनं सोऽवपातः । किं वा प्रत्येकं निष्कामादीनामवपातत्वं विधेयम् ॥ ५९ ॥

नाटकलक्षणे (तृतीयप्रकाशारम्भे) वाच्यास्तीति तत्रैव द्रष्टव्या भारतीत्यर्थः ।

सा=उद्गद्योक्ता पञ्चमी वृत्तिः, सा चोद्गद्यवृत्तग्रन्थे एव द्रष्टव्या । तिस्रः=क-
शिकी सात्त्वत्यारभती चेति तिस्रः ॥ ६१ ॥

देशभेदभिन्नवेपादिस्तु नायकादिव्यापारः प्रवृत्तिरित्याह—

देशभाषाक्रियावेपलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।

लोकादेवावगम्येता यथौचित्यं प्रयोजयेत् ॥ ६३ ॥

तत्र पाठ्यं प्रति विज्ञेयः—

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।

लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्योः कचित् ॥ ६४ ॥

कचिदिति देवीप्रभृतीनां संवन्धः ।

स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः सौरसेन्यधमेषु च ।

प्रकृतेरागतं प्राकृतम्=प्रकृतिः संस्कृतं तद्वयं तत्समं देशीत्यनेकप्रका-
रम् । सौरसेनी मागधी च स्वशास्त्रनियते ।

पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ॥ ६५ ॥

यदेशं नीचपात्रं यत्तदेशं तस्य भाषितम् ।

कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ॥ ६६ ॥

स्पष्टार्थमेतत् ।

आमन्त्र्यामन्त्रकौचित्येनामन्त्रणमाह—

भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वदेवर्षिलिङ्गिनः ।

विप्रामात्याग्रजाध्वर्या नदीसूत्रभृतौ मिथः ॥ ६७ ॥

आर्योविति संवन्धः ।

रथी मूतेन चायुष्मान्पूज्यैः शिष्यात्मजानुजाः ।

वत्सेति तातः पूज्योऽपि मुगृहीताभिधस्तु तैः ॥ ६८ ॥

अपिशाब्दात्पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति वाच्याः, सोऽपि तैस्ताते-
ति मुगृहीतनामा चेति ।

भाषानियममाह—पाठ्यमिति, पाठ्य भाषा ।

मन्त्रिजा=मन्त्रिपुत्री ॥ ६४ ॥

भगवन्त इति—विद्वदादयो वरैः—श्रेष्ठपार्श्वैर्मगवच्छब्देन संबोध्याः, विप्रोदय-
ध्वर्यशब्देन संबोध्याः, सूत्रधारेण नदी नद्या च सूत्रधार आर्यशब्देन संबोध्य
इत्यर्थः ॥ ६७ ॥

नोऽपि=पूज्योऽपि । तैः=शिष्यादिभिः ॥ ६८ ॥

१ “ शरसेनी ” “ शौरसेनी ” इत्यपि पाठौ ।

भावोऽनुगेन सूत्री च मार्पेत्येतेन सोऽपि च ।

सूत्रधारः पारिपार्श्वकेन भाव इति वक्तव्यः । स च सूत्रिणा मार्प इति ।

देवः स्वामीति नृपतिर्भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥ ६९ ॥

आमन्त्रणीयाः पतिवज्ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।

विद्वद्देवादिस्त्रियो भर्तृन्देव देवरादिभिर्वाच्याः ।

तत्र स्त्रियं प्रति विशेषः ।

समा हलेति, प्रेप्या च हञ्जे, वेश्याऽञ्जुका तथा ॥ ७० ॥

कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या वा जरती जनैः ।

विद्रूपकेण भवती राज्ञी चेटीति शन्यते ॥ ७१ ॥

पूज्या जरती अम्बेति । स्पष्टमन्यत् ।

चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावा-

नशेषतो नेतृदशाविभिन्नान् ।

को वक्तुमीशो भरतो न यो वा

यो वा न देवः शशिस्त्वण्डमौलिः ॥ ७२ ॥

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

दिङ्मात्रं दर्शितमित्यर्थः । चेष्टा लीलाद्याः, गुणा विनयाद्याः, उदा-
हृतयः संस्कृतप्राकृताद्या उक्तयः, सत्त्वं निर्विकारात्मकं मनः, भावः
सत्त्वस्य प्रथमो विकारस्तेन हावादयो ह्युपलक्षिताः ॥

॥ इति श्रीविष्णुसूनोपनिकस्य कृती दशरूपकस्य नेतृप्रकाशो नाम
द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ।

अनुगेन पारिपार्श्वकेन सूत्री सूत्रधारः भाव इति पदेन सन्बोध्यः ।

म. पारिपार्श्वकः । सूत्रिणा सूत्रधारेण ॥ ६९ ॥

समा हलेतिशब्देन, प्रेप्या हञ्जे इतिशब्देन, वेश्याऽञ्जुकेतिशब्देन, कुट्टिनी
पूज्या जरती चाऽम्बेतिशब्देन, विद्रूपकेण राज्ञी चेटी च भवतीशब्देन
सन्बोध्या ॥ ७०-७१ ॥

॥ इति सावलोक्तदशरूपकद्वितीयप्रकाशस्य प्रमाख्या

व्याख्या समाप्ता ॥

अथ

तृतीयः प्रकाशः

बहुवक्तव्यतया रसविचाराविलङ्घनेन वस्तुनेतृरसानां विभज्य नाट-
कादिपूषयोगः प्रतिपाद्यते—

प्रकृतित्वादधान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।

संपूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥ १ ॥

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः शेषं
प्रतीतम् ।

तत्र—

पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।

प्रविश्य तद्दपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥ २ ॥

पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला तत्प्रथमप्रयोगव्युत्था-
पनादौ पूर्वरङ्गता तं विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्देव वैष्णवस्था-
नकादिना प्रविश्यान्वो नटः काव्यार्थं स्थापयेत् च काव्यार्थस्थापनान्
सूचनात्स्थापकः ।

तृतीयप्रकाशमारभते—नक्ति । रसविचारे बहु वक्तव्यमस्तीति रसविचारमति-
लङ्घय सूचीकटाह्न्यायेनेत्यर्थः ।

अन्येषाम्=प्रकरणादीनाम् । संपूर्णलक्षणत्वात्=उक्तसंपूर्णलक्षणत्वात् ।

उद्दिष्टाः साकल्येनोक्ता धर्मा यस्य तद् उद्दिष्टधर्मकम् । अनुद्दिष्टधर्माणाम्=सा-
कल्येनानुक्तधर्माणाम् । प्रकृतिः=मूलमिति यावत् ॥ १ ॥

पूर्वरङ्गम्=मङ्गलाचरणादिकम्

तत्स्येति=तस्य=नाट्यशालास्यो यः प्रथमः प्रयोगव्युत्थापन(आरम्भ)-
लक्षणो व्यापारः स पूर्वरङ्गः, उक्तं च भरतेन पञ्चमाध्याये—

“ पादभागाः कलाश्चैव परिवर्तास्तथैव च ।

यस्माद्रङ्गप्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते ।

तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः ॥ ” इति

तद्देव=सूत्रधारदेव । वैष्णवस्यानकादिनाः=वैष्णववेशादिना ।

काव्यार्थम्=अभिनेयकाध्यक्याम् । स्थापयेत्=सूचयेत् ॥ २ ॥

दिव्यमर्त्यं स तद्रूपो मिथ्रमन्यतरस्तयोः ।

सूचयेद्वस्तु वीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥ ३ ॥

स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिथ्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत्—वस्तु वीजं मुखं पात्रं वा ।
वस्तु यथोदात्तराधवे—

“रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाक्षां गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोद्दिष्टम् ।

तौ सुग्रीवविभीषणाबनुगतौ नीतौ परां संपदं

प्रोद्धृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विपः ॥”

वीजं यथा रत्नावल्याम्—

“द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।

आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥”

मुखं यथा—

“आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः

प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।

अस्त्राय गाढतमसं घनकालमुग्रं

रामो दशास्यमिव संभूतवन्धुजीव ॥”

पात्रं यथा शाकुन्तले—

“तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हतः ।

एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥”

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।

ऋतुं कंचिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥ ४ ॥

रङ्गस्य प्रशस्तिं काव्यार्थानुगतार्थैः श्लोकैः कृत्वा

“भौत्सुक्येन कृतत्वेन सहभुवा व्यावर्तमाना हिया

तैस्तैर्यन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।

दृष्ट्वामे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे

सरोहत्पुलका हरेण हसता श्रिष्टा शिवा पातु वः ॥”

मुखमिति—तदुक्तं साहित्यदर्पणे—“मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः” इति, यथा “आसादित” इत्यत्र श्लेषेण श्रीरामकृतृत्वरक्षणवधः सूच्यते । चन्द्रहास इति रावणखड्गस्यापि नाम ॥ ३ ॥

रङ्गो नाट्यशाला । रङ्गम्—रङ्गस्यमामाजिकस्मुदायम् ॥ ४ ॥

इत्यादिभिरेव भार्गवो वृत्तिमाश्रयेत् ।

सा तु—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।

भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुरैः ॥ ५ ॥

पुरुषविशेषप्रयोज्य ससृजत्तदुल्लो वाक्प्रधानो नटाश्रयो व्यापारो
भारती, प्ररोचनार्थीवीथीप्रहसनाऽऽमुग्नानि चास्यामङ्गानि ।

यथोद्देश लक्षणमाह—

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ।

प्रस्तुतार्थप्रशसनेन श्रोतॄणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना यथा रत्ना-
वन्याम्—

“श्रीहर्षो निपुण कवि परिपदप्येषा गुणप्राहिणी

लोके ह्यारि च वत्सराजचरितं नाम्ने च दृष्ट्वा यत्नम् ।

वत्सेनैरुमर्षीह वाञ्छितफलप्राप्ते पद किं पुन-

मैरान्योपचयादय समुदित सर्वो गुणानां गण ॥”

वीथी प्रहसनं चापि स्वपसङ्गेऽभिधास्यते ॥ ६ ॥

वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव, तत्पुनः ।

सूत्रधारो नटी ब्रूते मार्षं वाथ विदूषकम् ॥ ७ ॥

स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।

प्रस्तावना वा तत्र स्युः कयोद्धातः प्रवृत्तकम् ॥ ८ ॥

प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ।

स्वप्रसङ्गे-तृतीयप्रकरणान्त्यभागे ॥ ६ ॥

यान्येव वीथ्यङ्गानि तान्यवामुखाङ्गानीत्यत्र प्रथममामुखस्य वक्तव्यत्वात् तत्पू-
र्यतेऽत्रैव वीथ्यङ्गान्युच्यते—उद्घात्यकेत्यादिना, उद्घात्यकाङ्गानि वीथ्यङ्गान्ये-
वामुखाङ्गानि प्राह्याणि । तत् आमुखम् । तत्पुन इत्यस्याग्रिमपद्यनान्वयः ।

आमुखलक्षणमाह—सूत्रधार इति ॥ ७ ॥

आमुखस्य नामान्तर्गमाह—प्रस्तावनेति । तत्र—आमुखः । कयोद्धातः प्रवृत्तक-
प्रयोगातिशयश्चेत्यामुखस्य त्रया भेदाः । यानि वीथ्यङ्गानि तान्येवामुखस्याङ्गा-
नीत्यर्थः ।

तत्र कथोद्धात —

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ॥ ९ ॥

गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्धातो द्विधैव सः ।

वाक्यं यथा रत्नावल्याम् — यौगन्धरायण — द्वीपाद-यस्मादपि—
इति ।

वाक्यार्थं यथा वेणीसहारे — सूत्रधार —

निर्वाणवैरिदहना प्रशमादरीणा

नन्दन्तु पाण्डुतनया सह केजवेन ।

रत्नप्रसाधितभुव क्षतनिग्रहाश्च

रसस्था भवन्तु कुरु राजसुता समृत्त्या ॥ ”

ततोऽर्थेनाह — “भीम —

लाक्षागृहानलविपात्रसभाप्रवेशे

प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न प्रहृत्य ।

आकृष्टपाण्डवधूपरिवानकेशा

रसस्था भवन्तु मायि जीवति धार्तराष्ट्रा ॥ ”

अथ प्रवृत्तकम् —

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात्प्रवृत्तकम् ॥ १० ॥

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः प्रवृत्तकं यथा —

“ आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहास

प्राप्त शरत्समय एष विगुहकान्त ।

इत्याय गाढतमस धनकालमुप

रामो दशास्यमिव समृतनन्धुर्जीव ॥

(तत प्रविशति यथानिर्दिष्टो राम) ’ ।

वाक्यं यथेति — सूत्रधारस्य वाक्यं गृहीत्वा पात्रप्रवेशो यथा रत्नावल्यामिति यर्थः ।

वाक्यार्थं यथेति — सूत्रधारस्य वाक्यार्थं गृहीत्वा पात्रप्रवेशो यथा वेणीसहारे
इत्यर्थः ॥ ८ ९ ॥

कालेति — कालसाम्येन समाहितं य पात्रस्य प्रवेशः स कालसाम्यमभाति
प्रकाश मध्यमपदलोपी समासः । अर्थसमनाय आदाहरणं स्पष्ट एव ॥ १० ॥

१ “ वाक्यं वाक्यार्थमयत्रा प्रवृत्तं यत्र सूत्रिणः ” इति पाठान्तरम् ।

अथ प्रयोगातिशयः—

एषोऽयमित्युपसेपात्सूत्रवारप्रयोगतः ।

पात्रप्रवेशो यत्रैव प्रयोगातिशयो मतः ॥ ११ ॥

यथा “एष राजेव दुष्यन्त ” इति ।

अथ धीध्यद्धानि—

जुद्धात्यकाचलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।

वाक्केत्यधिवले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥ १२ ॥

असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश ।

तत्र—

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रभोत्तरस्य वा ॥ १३ ॥

यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्धात्यं तदुच्यते ।

गूढार्थं पदं तत्पर्यायश्वेत्येषं माला प्रभोत्तरं चेत्येवं वा माला द्वयो-
रुक्तिप्रत्युक्तौ सट्टिविधमुद्धात्यकम् । तत्राद्यं विक्रमोर्वश्या यथा—“विदू-
षकः—भो वयस्स को एसो कामो जेण तुमं पि दूमिज्जसे सो किं
पुरीसो आदु इत्थिअ त्ति । राजा—सखे

मनोजातिरनाधीना मुरेप्येव प्रवर्तते ।

सोहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते ॥

विदूषकः—एवं पि ण जाणे । राजा—वयस्य इच्छाप्रभव स इति ।

विदूषक—किं ओ ज इच्छदि सो ॥ कामेदित्ति । राजा—अथ किम् ।

विदूषकः—सां जाण्णिदं जह् अहं सूअआरसालाप भोअणं इच्छामि ।”

गूढेति—गूढार्थपदस्य सदर्थव्याख्यानार्थं तत्पर्याय पदानां वा माला=अनेकस्य
तद् उद्धात्यकं यथा प्रथमोदाहरणेऽनेनधा कामपदार्थव्याख्यानम् । प्रभोत्तर
योश्च वा माला तदप्युद्धात्यकं यथा द्वितीयोदाहरणे । “ उक्तिप्रत्युक्तौ ”
इत्यत्र ‘ यत्र ’ इति शेष ॥ १३ ॥

१ “ भो वयस्य क एष कामो जेण त्वमपि इवसे ॥ किं पुरपोऽथवा
स्त्रीति । ” २ “ एवमपि न जानामि । ” । ३ “ किं यो यदिच्छति स तत्कामय-
तीति । ” ४ “ तज्ज्ञात यथाहं सूषकारसालाप्यं भोजनमिच्छामि । ” इति
च्छाया ।

द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे—

“ का श्लाघ्या गुणिना क्षमा परिभवा को यः स्वकुल्यै कृतः
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते ।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः
कैर्विज्ञातामिदं विराटनगरे छत्रस्थितैः पाण्डवैः ॥”

अथावलगितम्—

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्पसाध्यते ॥ १४ ॥

प्रस्तुतेऽन्यत्र वान्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा ।

तत्राद्यं ययोत्तरचरिते समुत्पन्नवनविहारगर्भदोहदायाः सीताया दोह-
दकार्येऽनु (७) प्रविश्य जनापवादादरूपे त्यागः । द्वितीयं यथा छलि-
तरामे—“रामः—लक्ष्मण तातवियुत्तामयोध्या विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं
क्षक्नोमि तदवतीर्य गच्छामि ।

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयो पुर ।

जटावानश्माली च चामरी च विराजते ॥ ”

इति भरतदर्शनकार्यसिद्धिः ।

अथ प्रपञ्च—

असद्भूतं मिथःस्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥ १५ ॥

असद्भूतेनार्थेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना वान्योन्यस्तुस्ति स प्रपञ्चः
यथा कर्पूरमञ्जर्याम्—भैरवानन्द—

रेण्डा चण्डा दिक्पिण्डा धम्मदारा मज्जं मस पिञ्जए खज्जए अ ।

भिन्खा भोजं चम्मखण्डं च सेज्जा कोलो धम्मो वस्स णो होइ रम्मो ॥

यनेति—एकया क्रियया यत्र कार्यद्वयं साध्यते तद् अवलगितं यथा भीसीताया
वनप्रेषणक्रियया सीतात्यागो दोहदसपत्तिश्चेति द्वयमेव सिद्धम् । यत्र चान्यस्मिन्
प्रस्तुतेऽन्यत् क्रियत तदप्यवलगितं यथा विमानेनायोध्याप्रवेशे प्रस्तुते विमाना
दवतीर्याऽयोध्याप्रवेशः कृत इति ।

“ दोहदकार्येऽनुप्रविश्य ” इत्यस्य ‘ दोहदकार्याभिमुखीभूत्वा ’ इत्यर्थः,
वस्तुतस्त्यत्र ‘ दोहदकार्येण प्रविश्य ’ इत्येव पाठो युक्तः—दोहदकार्यार्थं प्रविश्ये
त्यर्थः ॥ १४ ॥

१ “रेण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मय मासं पीयते खायते च ।

मिक्षा भोज्य चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मं कस्य न भवति रम्य ॥”

इति च्छाया ।

अथ त्रिगतम्—

श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह ।
नटादित्रितयालापः पूर्वस्ङ्गे तदिष्यते ॥ १६ ॥

यथा चित्रमोर्वश्याम्—

“ मत्तानां कुसुमरसेन पद्मदानां
शत्रोऽयं परमृत्तनाद एष धीरः ।
वैलासे सुरगणसेविते समन्तात्
किन्नर्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥ ”

अथ छलनम्—

प्रियाभैरप्रियैर्वाचयैर्विलोभ्य छलनाच्छलम् ।

यथा वेणीसंहारे—“ श्रीमार्जुनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोदीपितः सोऽभिमानी
राजा तु शासनादेशुर्गन्तुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
काशे दुर्बोधनोऽसा कथयत पुरुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्य ॥ ”

अथ वाक्केली—

विनिवृत्त्यास्य वाक्केली द्वित्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥ १७ ॥

अस्येति वाक्यस्य प्रक्रान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं वाक्केली, द्वित्रिर्ना
उक्तिप्रत्युत्तरं, तत्राद्या यथोत्तरचरिते—“ वसनती—

त्व जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीय
त्वं वीमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।

नटादीति—नटादित्रयाणांमालम्पात् त्रिगतमित्युच्यते तच्च पूर्वस्ङ्गे भवतीत्यर्थः ।
श्रुतिसाम्यात्—शाब्दसाम्यात् ॥ १६ ॥

अस्य—वाक्यस्य विनिवृत्त्या—ऊनोक्त्या वाक्केली भवतीत्यर्थः ।

अस्येतीति—अत्रत्यमस्येतिपद पूर्वोक्तत्रयपरामर्शकमित्यर्थः ।

“ त्व जीवितम् ” इत्यत्र “ तामेव ” इत्यनन्तरम् “ निर्वासितः यत् ” इति
शेष इति साकाङ्क्षवाक्यम्, अधिकं उत्तरचरिते एव तृतीयाङ्के द्रष्टव्यम् ।

इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य भुग्वा
तामेन शान्तमयवा किमतः परेण ॥”

उत्तिप्रत्युत्तिनो यथा रत्नावल्याम्—“विदूषक—भोदि मअणिण
म पि एदं चच्चरिं सिमस्सवोहि । मदनिक्का—हंदास ण क्खु एसा
चच्चरी । दुवदिस्सण्डअं क्खु एदम् । विदूषकः—भोदि किं एदिणा
स्सण्डेण मोदआ करीअन्ति । मदनिक्का—णोहि पढीअदि क्खु एदम् ॥”
इत्यादि ।

अथाधिनलम्—

अन्योन्यवाक्याधिकयोक्तिः स्पर्धयाऽधिवलं भवेत् ।

यथा वेर्णासंहारे—“अर्जुन —

सकलरिपुजयाशा यत्र वद्धा मुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्जेण श्लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डुपुत्रः ॥”

इत्युपक्रमे “राजा—अरे नाहं भवानिव विस्मयनाप्रगतम्, किं तु—

द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं बांधवास्त्वा रणाङ्गणे ।

मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥”

इत्यन्तेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यवाक्यस्याविक्योक्तिरविवलम् ।

अथ गण्डः—

गण्डः प्रस्तुतसंबन्धिभिन्नार्थं सहस्रोदितम् ॥ १८ ॥

यथोत्तरपरिते—“राम —

इयं मेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-

रसावस्था, स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरस ।

उत्तिप्रत्युत्तिनां प्रभोत्तस्तमस्त्ये उद्घात्यकमन्यथा धाकेलीति विशेषोऽनु
सधेय ॥ १७ ॥

गण्ड इति—प्रस्तुतसंबन्धो यो विक्रदोऽर्जस्तत्त्वचक सहस्रोदित यद् वाक्य तद्

१ “भवति मदनिके मामप्येता चर्चरीं शिक्षय ॥” २ “इतास न खन्वेया
चर्चरी द्विपदिशक खन्वेतत् ।” ३ “भवति किमेतेन खण्डेन मोदका
त्रियन्ते ॥” ४ “नहि पठ्यते खन्वेतत् ।” इति ध्याया ।

अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः

किमस्या न प्रेयो यदि परमसहस्रं विरहः ॥

(प्रविश्य) प्रतीहारी—देवं उअत्थिदो । रामः—अयि कः । प्रतीहारी—देवंस्त आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो ।” इति ।

अथावस्यन्दितम्—

रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत् ।

यथा छलितरामे—“सीता—जाद कलं कम्बु तुक्कोहिं अजुब्बाए गन्तव्वं तहिं सो राजा विणएण णमिदव्वो । लव.—अम्ब किमावाभ्यां राजोपजाविभ्यां भवितव्वम् । सीता—जाद सो कत्तु तुक्काणं पिदा । लवः—किमावयो रघुपतिः पिता । सीता—(साशङ्कम्) जाद ण कत्तु परं तुक्काणं सअलाए जेव्व पुहवीए ।” इति ।

अथ नालिका—

सोपहासा निगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका ॥ १९ ॥

यथा मुद्राराक्षसे—“चरः—हंहो बहण मा कुप्प किं पि तुह उअज्जाओ जाणादि किं पि अद्धारिसा जणा जाणन्ति । शिष्यः—किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि । चरः—यदि दे उअज्जाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दो अणभिप्पेवो त्ति ।

ण्ड इत्युच्यते यथात्र प्रलुता या श्रीजानकीप्रीतिस्तद्विरुद्धार्थम् “देव उअत्थिदः” इति वाक्यम् ॥ १८ ॥

रसोक्तस्य वाक्यस्येत्यर्थः । यथात्र “सोक्खु तुक्काणं पिदा” इतिवाक्यस्य “सअलाए जेव्वपुहवीए” इत्येवमन्वयानयनम् ।

सोपहासेति—एषजारस्य भिन्नव्रमत्वात् ‘प्रहेलिकैव’ इत्यन्वयः । “संवरणार्थ्युत्तर प्रहेलिका” इति दर्पणे, अर्थसमवायश्चोदाहरणे स्पष्ट एव ॥ १९ ॥

१ “देव उपस्थितः ।” २ “देवस्यासन्नपरिचारको दुर्मुखः ।” ३ “जात कस्य खलु युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यं तर्हि स राजा विनयेन नमितव्य ।” ४ “जात स खलु युवयोः पिता ।” ५ “जात न खलु पर युवयोः सकलाया एव पृथिव्याः ।” ६ “हहो नाहण मा कुप्प किमापि तवोपाध्यायो जानाति किमप्यस्मादृशा जना जानन्ति ।” ७ “यदि त उपाध्यायः सर्वं जानाति तज्जानातु तावत्स्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति ।” इति च्छया ।

शिष्यः—किमनेन ज्ञातेन भवति । ” इत्युपक्रमे “चाणक्य—चन्द्र-
गुप्तादपरक्तान्पुरुषाञ्जानामि । ” इत्युक्तं भवति ।

अथाऽसत्प्रलाप —

असंबद्धकथामायोऽसत्प्रलापो यैयोत्तरः ।

ननु चासंबद्धानर्थत्वेऽसंगतिर्नाम वाक्यदोष उक्तः ? तत्र—उत्सप्रा-
यितमदोन्मादशैशवादीनामसंबद्धप्रलापितैव विभावो यथा—

“अचिन्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहुराण्यासृक्तो वासुके-
रङ्गुल्या विपकर्षुराणाणयत. संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान् ।
एकं त्रीणि नवाष्ट्र सप्त पञ्चिती प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
वाच क्रौञ्चरिपो. शिशुस्त्रविकलाः श्रेयासि पुण्णन्तु व ॥”

यथा च—

“हंस प्रयच्छ मे कान्ता गतिस्तस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैरुद्देशेन देयं यदभियुज्यते ॥”

यथा वा—

“भुक्ता हि मया गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत् ।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥”

अथ व्याहारः—

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकर्तृ वचः ॥ २० ॥

यथा मालविकाग्निमित्रे लास्यप्रयोगावसाने—“ (मालविका निर्ग-
न्मुमिच्छति) विदुषक—मा दाव धवपससुद्धा गमिस्ससि । ” इत्युपक्रमे
“गणदास — (विदुषः प्रति) आर्य उच्यता यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः ।
विदुषक.—पेढमं पच्चूसे बह्मणस्स पूजा भोदि सा तए लङ्घिदा

विभाव इति—विभाव्यतेऽनेनेति विभाव, मदोन्मादादिकमसत्प्रलापेनैव रि-
भाव्यते=विज्ञायते इति मदोन्मादादीनामसत्प्रलापिता विभाव इत्यर्थः “विभाव ,
इत्यत्र ‘ अनुभाव ’ इति तु युक्तं पाठः ।

अन्यार्थमिति—अन्यार्थम्= यदुच्यते तदतिरिक्तप्रयोजनक हास्यलोभकर्तृ वचो

१ “ययोत्तरम्” इत्यपि पाठः । २ “मा तावत् उपदेशशुद्धा गमिष्यसि ”

३ “प्रथमं प्रत्यूपे ब्राह्मणस्य पूजा भवति सा तथा लक्षिता । ” इति श्रुत्या ।

(मालविका स्मरते) । ” इत्यादिना नायकस्य विश्रव्धनायिकादर्शन-
प्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन व्याहारः ।

अथ मृदवम्—

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।

यथा शाकुन्तले—

“भेदच्छेददृशोदरं लघु भक्त्युत्थानयोग्यं वपुः

सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमञ्चितं भयक्रोधयोः ।

उत्कर्षः स च धन्विनां यद्विष्वः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले

मिथ्यैव व्यसुनं वदन्ति भृगयामीदृग्विनोदः इतः ॥”

इति भृगयाशेषस्य गुणीकारः ।

यथा च—

“ सततमनिर्भूतमानसमायाससद्वस्त्रसंकुलछिष्टम् ।

गहननिद्रमन्त्रिश्चासं जीवति राजा जिगीपुरयम् ॥”

इति राज्यगुणस्य दोषाभावः ।

उभयं वा—

“ सन्तः सचरितोदयव्यसनिनः प्रातुर्भवचन्द्रणाः

सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीयन्ति दुःखं सदा ।

अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो

युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥”

इति प्रस्तावनाङ्गानि ।

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं वाक्षिष्य सूत्रभूत ॥ २१ ॥

प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

तत्र—

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥ २२ ॥

व्याहार इत्युच्यते । व्याहार=शब्दप्रयोग ॥ २० ॥

एषामिति—कथोद्घातप्रवृत्तप्रयोगातिशयाना मध्येऽन्यतमेनेत्यर्थः, एवमेव
प्रयोगेषु दर्शनात् नैर्द्घात्यादिनाङ्गेनेत्यर्थः । वस्तु=कथा प्रपञ्चयेत्=आर-
भत ॥ २१ ॥

अभिगम्यगुणैः=अभिरम्यगुणैस्त्वष्टगुणैरिति यावत् ॥ २२ ॥

कीर्तिकामो गहोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥ २३ ॥

तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

यत्रोत्तिवृत्ते सत्यरागसंवादकारिणीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुण-
युक्तो रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजर्षिर्दिव्यो वा नाय-
कस्तत्प्रख्यातमेवात्र नाटक आधिकारिकं वस्तु विधेयमिति ।

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥ २४ ॥

विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

यथा छद्मना वालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्तः । वीरच-
रिते तु रावणसौहृदेन वाली रामवधार्यमागतो रामेण हत इत्य-
न्यथा कृतः ।

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥ २५ ॥

खण्डशः संधिसंज्ञांश्च विभागानपि खण्डयेत् ।

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धाकृतसूचनीयदर्शनीयवस्तुविभाग-
फलानुसारेणोपकृष्टग्रीकविन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिकं पञ्चाय-
स्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत् । पुनरपि चैकैकस्य भागस्य द्वादश
त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसंज्ञान् संधीनां विभागान्कुर्यात् ।

चतुःपट्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीत्यप्यरं तथा ॥ २६ ॥

पताकावृत्तमप्यूनमेकाधैरनुसंधिभिः ।

अङ्गान्यत्र यथालामंमसंधिं प्रकरीं न्यसेत् ॥ २७ ॥

त्रय्या = वेदत्रयस्य । यत्र = श्रीरामायणादौ ॥ २३ ॥

तत्प्रख्यातम् = श्रीरामायणादिप्रसिद्धम् । वृत्तम् = कथा । अत्र = नाटके ॥ २४ ॥

खण्डश इति = संधिसंज्ञान् भागान् पञ्चधा विभक्तानपि खण्डयेत् = अङ्गसंज्ञा-
कविभागैर्विभजेदित्यर्थः । अङ्गानां सख्या चाग्रिमवाक्येन स्मारयति = चतुरिति ।

“अङ्गसंज्ञान्” इत्यत्र “अङ्गसंज्ञानाम्” इति पाठस्त्वयुक्त एव प्रतिभाति ॥ २६ ॥

पताकानामकाऽऽप्रधानेतिवृत्तस्य सन्धिसंबन्धसमयमाह — अपरे तथेति, अपर
पताकावृत्तमित्यन्वयः । “अनुसंधिभिः” इत्यस्य ‘अप्रधानमुत्तादिसंधिभिः’ इत्यर्थः ।

अपरमपि प्रासङ्गिकमिति वृत्तमेराद्यैरनुसाधिभिर्न्यूनमिति प्रयानेति-
वृत्तादेकद्वित्रिचतुर्भिरनुसंधिभिर्न्यून पताकेति वृत्तं न्यसनीयम् । अङ्गानि
च प्रधानाविरोधेन यथालाभं न्यसनीयानि । प्रकरीतिवृत्त त्वपरिपूर्ण-
संधि विधेयम् ।

तत्रैव विभक्ते—

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः ।

इयमत्र कार्ययुक्ति —

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥ २८ ॥

यदा संदर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा ।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ २९ ॥

आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसश्रयः ।

स च—

प्रत्यक्षनेवृचरितो निन्दुष्यात्तिपुरस्कृतः ॥ ३० ॥

अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ।

रङ्गप्रवेशे साक्षाभिर्दिश्यमाननायकव्यापारो निन्दूपक्षेपार्थपरिमितो-

प्रधानेतिवृत्तापेक्षया पताकाद्यऽप्रधानेतिवृत्तस्य न्यूनत्वेनाल्पदेशव्याप्यत्वेन तदपे-
क्षया न्यूनसख्याऽसंधिसवन्धस्तत्रोक्त । संधीना प्रधानेतिवृत्तानुपक्षेपेणैव पताकया
सवन्धद्योतनार्थम् “अनुसंधिभिरित्युक्तम् । विधेयमितिशेषः १ अत्र=पताकायाम् ।
प्रकरीतिवृत्तस्य विशेषमाह—असन्धिमिति । प्रकरीतिवृत्तस्याऽत्यल्पत्वात् तत्र
सन्धिसप्रवाययोग्यतैव न सम्भवतीति भावः ॥ २७ ॥

आदौ=नाटकाद्यारम्भे ।

अपेक्षितमिति—अपेक्षितं नीरसं च वस्तुविस्तरं परित्यज्य यदा शेषम्=मध्या-
वस्थं वस्तु सदृशयितुं प्रदर्शयितुमिच्छेत् अत्रिस्तदा तत्प्रदर्शनार्थं विष्कम्भकं कुर्यात्
यदा ॥ मूलात्=आरम्भादेव सरसं वस्तु प्रवर्तते तदा विष्कम्भको न कर्तव्यः कि-
न्त्वामुखेनैवोक्तप्रयोगातिशयादिस्वप्ने पात्राक्षेपं कर्तव्यं इत्यर्थः । आमुखेन पात्रा-
क्षेपः सश्रयो यस्य स आमुखाक्षेपसश्रय इत्यङ्कविशेषणम् ॥ २८-२९ ॥

स=अङ्कः । रङ्गप्रवेशे इति—नायकस्य रङ्गप्रवेशे जाते रङ्गप्रवेशमारभ्य नायक-
व्यापारयुक्त इत्यर्थः । द्वितीयार्थप्रवृत्तिभूतनिन्दोक्षपक्षेपलक्षणायेन=निक्षेपेण परि-

ऽनेकप्रयोजनसंविधानरसाभिरुण उत्सङ्ग इवाङ्क ।

तत्र च—

अनुभावविभावाभ्यां स्यायिना व्यभिचारिभिः ॥ ३१ ॥

गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम् ।

अङ्गिन इत्याङ्गिरसस्थायिना समहात्स्यायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रह-
णम् । गृहीतमुक्तैः परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थः ।

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥ ३२ ॥

रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ।

कथासध्यङ्गोपमादिलक्षणैर्भूषणादिभिः ।

एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीरः शृङ्गार एव वा ॥ ३३ ॥

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।

ननु च रसान्तरस्थायिनेत्यनेनैव रसान्तराणामङ्गत्वमुक्तम्, तन्न—अत्र
रसान्तरस्थायी स्वानुभावविभावव्यभिचारियुक्तो भूयसोपनिनध्यते तत्र
रसान्तराणामङ्गत्वम्, केवलस्याय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारितैव ।

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ॥ ३४ ॥

संरोधं भोजनं स्नानं मुरतं चानुलेपनम् ।

अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ॥ ३५ ॥

मित = युक्त इतियाक्त । नानाप्रकारार्थसंविधानस्य = अनेकप्रकारप्रयोजनसंपादनस्य
रसस्य चाभयो भवत्यङ्क इत्यर्थः ॥ ३०—३१ ॥

अङ्गिन = अङ्गिन इतिपदेनैवेत्यर्थः । परस्परव्यतिकीर्णैः = परस्पर मिभिते
सापेक्षैर्वा ।

न चेति—रसस्थातिनिबन्धनेन वस्तु = इतिवृत्त विच्छिन्न न कुर्यादित्यर्थः ॥ ३२ ॥

ननु चेति—अत्र ‘पुनरत्र रसान्तराणामङ्गत्वकथनेन पुनरुक्तिदोषः’ इति शेषः ।
परिहरति—तत्रेति । केवलस्योपनिबन्धस्य स्थायिनो व्यभिचारित्वमेव भवतीति
पूर्वत्र केवलस्य स्थायिनोऽङ्गत्वमुक्तमिति व्यभिचारीभूतस्यायिनोऽङ्गत्वमुक्तेन प्राप्तम्,
अत्र च स्वानुभावादपरिपुष्टस्य रसतां प्राप्तस्य स्थायिनोऽङ्गत्वमुक्तमिति न पौन-
रुक्त्यमिति भावः ।

संरोध = अन्त्यनृपतिप्रयुक्तनगरादिसंरोधः ॥ ३५ ॥

१ “अत्रस्य” इत्यपि पाठः ।

अङ्कनैरोपनिवर्णीत प्रवेशकादिभिरेव सूचयेदित्यर्थः ।

नाधिकारिवधं कापि त्याज्यमावश्यकं न च ।

अधिकृतनायक्यवधं प्रवेशकादिनापि न सूचयेत्, आवश्यकं तु देव-
पितृकार्याद्यवश्यमेव कचिल्ल्यात् ।

एकाहाचरितैकार्थमित्यमासन्ननायकम् ॥ ३६ ॥

पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्गं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।

एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसंनद्धमासन्ननायकम्ऽत्रहुपात्रप्रवेशमऽङ्कं कु-
र्वात्, तेषां पात्राणामवश्यमऽङ्कस्यान्ते निर्गमः कार्यः ।

पताकास्थानकान्यत्र विन्दुरन्ते च बीजवत् ॥ ३७ ॥

एवमङ्गाः प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः ।

पञ्चाङ्गमेतदवरं दशाङ्गं नाटकं परम् ॥ ३८ ॥

इत्युक्तं नाटकलक्षणम् ।

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।

अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥ ३९ ॥

धीरं प्रशान्तं साधारणं धर्मकार्यतत्परम् ।

शेषं नाटकवत्संधिप्रवेशकरसादिकम् ॥ ४० ॥

कविबुद्धिविरचितमिति वृत्तं लोकसंश्रयम्-अनुदात्तम् अमात्याद्यन्य-
समं धीरप्रशान्तनायकं विपदन्तरितार्थसिद्धिं कुर्यात् प्रकरणे, मन्त्री
अमात्य एव । सार्धबाहो वणिग्विशेष एवेति, स्पष्टमन्यन् ।

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।

कचिदेकैव कुलजा वेश्या कापि द्वयं कचित् ॥ ४१ ॥

कुलजाभ्यन्तरा, बाह्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयोः ।

कुर्यात्-प्रदर्शयेत् ॥ ३६ ॥

अन्ते च बीजमिति-अन्ते बीजपरायणमुक्तं कुर्यादित्यर्थः ॥ ३७ ॥

“ उत्पाद्यम् ” इत्यस्य “ कविबुद्धिविरचितम् ” इत्यर्थः “ मायायम् ”
इत्यस्य “ विपदन्तरितार्थमिदम् ” इत्यर्थः । अमात्यो मन्त्र्येव सार्धबाह एव
वणिग्विशेष इत्यन्वयः ॥ ३९-४० ॥

प्रकरणे उपनिवर्णनाधिकामाह-नायिकेति । अनयोः-कुलजावेश्यायो, अणि-

आभिः प्रकरणं त्रेधा, संकीर्णं धूर्तसंकुलम् ॥ ४० ॥

वेशो भृति सोऽस्या जीवनमिति वेश्या तद्विशेषो गणिका
यदुक्तम्—

“आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता ।

लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ॥”

एवं च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका यथा वेश्यैव
संरक्ष्यते कुलमेव पुष्पदूषितके ते द्वेऽपि मृच्छकटिकायामिति । कित-
वन्तकारादिधूर्तसंकुल तु मृच्छकटिकाद्वित्सर्कार्णप्रकरणमिति ।

अथ नाटिका—

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र संकीर्णान्यनिवृत्तये ।

अत्र केचित्—

“अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः ।

प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये ॥”

इत्यमुं भरतीयं श्लोकम् ‘एको भेदः प्रख्यातो नाटिकारजः इतरस्तु प्र-
ख्यातः प्रकरणिकासंज्ञो नाटीसंज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते’ इति व्याच-
क्षाणां प्रकरणिकामपि मन्यन्ते नृदसत्—उद्देशलक्षणयोरनभिमानान्-
समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात् अतुरसनायकानां प्रकरणाऽभेदात् प्रकर-
णिकायाः, अतोऽनुदिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षणं कृतं तत्रायम-
भिप्रायः—शुद्धलक्षणसंस्कारादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं संकीर्णानां
नाटिकैव कर्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते ।

नमोनास्ति नाम प्रकरणे नायिका कुलजा वा वेश्या बोधय वा भवति नायैति
नियम इत्यर्थः ॥ ४१-४२ ॥

संकीर्णमिति—नाटिकादीनामुपरुपकाणां नाटकप्रकरणादिलक्षणे, संकीर्णत्वेन
संकीर्णानां नाटिकादियु मध्ये नाटिकैव विधेया न श्रोत्रादिकमित्यर्थः ।

अनयो = नाटिकाप्रकरणिकयो । बन्धयोगात् = दृष्टिपृष्ठादिसाम्येण । “इ = ना
टिकाप्रकरणिकेति द्वे । उद्देशः = भाषमिकनामकीर्तनम् ।

शुद्धेति—शुद्धस्य नाटकादेर्यल्लक्षणं तत्संस्कारादेव—नाटकप्रकरणलक्षणयो सं-
स्कारादेव तल्लक्षणे = नाटिकालक्षणे सिद्धे नाम किंचिन्नाल्लक्षणेन किंचिप्रकरणल-
क्षणेन संकीर्णां वक्ष्यमाणतीत्या नाटिका विधेयेति सिद्धेऽपि नाटिकालक्षणकरणं संकी-
र्णानामुपरुपकाणां मध्ये नाटिकैव कर्तव्या न श्रोत्रादिकमिति नियमार्थमित्यर्थः ।

तमेव संनरं दर्शयति—

तत्र वस्तु प्रकरणात्नाटकाभायको नृपः ॥ ४३ ॥

प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः ।

उत्पाद्येतिवृत्तत्वं प्रकरणधर्मः प्रख्यातनृपनायकादित्वं तु नाटकधर्म-
इति, एवं च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्वादेः प्रकरणिकायाम-
भावादङ्गपात्रभेदाद् यदि भेदस्तत्र (तदा)

स्त्रीप्रायचतुरङ्गादिभेदकं यदि चेप्यते ॥ ४४ ॥

एकद्विष्यङ्गपात्रादिभेदेनानन्तरूपता ।

तत्र नाटिकेतिस्त्रीसमाख्ययौचित्यप्राप्तं स्त्रीप्रधानत्वम्, कैशीकीवृत्त्या-
श्रयत्वाच्च तदङ्गसंख्ययाऽङ्गावमर्शत्वेन चतुरङ्कत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव ।
विशेषस्तु—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ ४५ ॥

गम्भीरा मानिनी, कृच्छ्रात्तदशाभेतृसंगमः ।

प्राप्या तु—

नैयिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥ ४६ ॥

तादृशीति नृपवंशजत्वादिधर्मातिदेशः ।

अन्तःपुरादिसंबन्धादासत्रा श्रुतिदर्शनैः ।

अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ॥ ४७ ॥

नेता तत्र प्रवर्तते देवीत्रासेन शङ्कितः ।

तस्यां मुग्धनायिकायामन्तःपुरसंबन्धसंगोतकसंबन्धादिना प्रत्या-

सत्र=नाटिकायाम् ॥ ४३ ॥

एवं चेति—नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्वादेः प्रकरणिकायामभावेऽपि
यद्यङ्गपात्रादिभेदानाटिकात् प्रकरणिकाया भेद उच्यते तदा एकद्विष्यङ्गपात्रा-
दिभेदेन रूपकाणामनन्ता भेदाः स्युः, न चेदितिमिति न प्रकरणिका पृथग-
याच्येत्यर्थः ॥ ४४ ॥

विशेष= नाटिकायां विशेषः । तत्र= नाटिकायाम् ॥ ४५ ॥

तदशात्=देवीयशादेव नायकस्य नूतननायिकया सह समागमो नाटिकायां
भवेतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

तस्या तर्पेति नूतननायिकायामित्यर्थः ॥ ४७ ॥

१ “प्राप्यान्वा” इत्यपि पाठः ।

सन्नायां नायस्व देवीप्रतिनन्वान्तरित उत्तरोत्तरो नगवस्थानुरागो निबन्धनीयः ।

कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्गैरेव नाटिका ॥ ४८ ॥

प्रत्यङ्गोपनिर्वादाभिहितलक्षणकैशिक्यङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति ।

अथ भाणः—

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।

यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥ ४९ ॥

संशोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।

सूचयेद्दीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्त्वैः ॥ ५० ॥

भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्गं वस्तु कल्पितम् ।

मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ॥ ५१ ॥

धूर्ताश्च दीरशृङ्गारादयस्तेषां चरितं यत्रैक एव विटः स्वकृतं परकृतं चोपवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाणः । एतस्य चोक्तिप्रत्युक्तय आकाशभाषितैराशङ्कितोत्तरत्वेन भवन्ति । अस्पष्टत्वाच्च वीरशृङ्गारौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ ।

लास्याङ्गानि—

गेयं पदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।

कैशिक्येति—नाटिका यथा चतुर्भिर्मुक्ता भवति तथोक्तैः कैशिक्यङ्गैरेपि चतुर्भिर्मुक्ता भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आशङ्कितोत्तरत्वेन नाम 'किमुक्तम् अहमत्रास्मीनि' इत्येवम्, तदेतद्भाणे द्रष्टव्यम् । सौभाग्यवर्णनेन शृङ्गारः शौर्यवर्णनेन च वीरः सूचनीयः—अस्पष्टत्वात्—शृङ्गारवीरप्रधानचरित्रस्याऽदर्शनाद्भाणे ॥ ५०—५१ ॥

लास्याङ्गानां लक्षणानि यथा—

गेयपदम्—“तन्त्रीभाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्याग्ने पुरः ।

पुष्पगानं गेयपदम्, स्थितपाठ्यं तदुच्यते ॥

स्थितपाठ्यम्—मदनोत्तापिता यत्र पठति श्राव्यं स्थिता, ॥

आसीनम्—निखिलातोद्यरहितं शोकचिन्तान्विताऽवला ।

मुप्रसारितगानं यदासीदाऽऽसीनमेव तत्, ॥

पुष्पगण्डिका—आतोद्यभिभूतं गेयं छन्दसि विविधानि च ।

स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टितं पुष्पगण्डिका, ॥

प्रच्छेदकास्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥ ५२ ॥

उत्तमोत्तमकं चान्यदुत्तमत्युत्तमेव च ।

लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशैकल्पनम् ॥ ५३ ॥

जेयं स्पष्टमिति ।

अथ प्रहसनम्—

तद्वत्प्रहसनं प्रेषा शुद्धवैकृतसंकरैः ।

तद्वदिति भाणवद्वस्तुसंघिसंघ्यङ्गलास्यादीनामनिदेशः ।

तत्र शुद्धं तावन्—

पाखण्डिविप्रमभृतिचेष्टचेष्टीविद्राकुलम् ॥ ५४ ॥

चेष्टितं वेपभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम् ।

पाखण्डिनः शास्त्रनिर्मन्थप्रभृतयः विप्राश्चात्यन्तमृजत्रः जातिमाश्री-
पजीविनो वा प्रहसनाङ्गिहास्यविभावा, तेषां च यथावत्स्वव्यापारोपनि-
यन्धनं चेष्टचेष्टीव्यवहारयुक्तं शुद्धं प्रहसनम् ।

विकृतं तु—

कामुकादिबचोवैपैः पण्डकञ्चुकितापैः ॥ ५५ ॥

प्रच्छेदकः—अन्वागच्छं पतिं मत्पा प्रेमविच्छेदमस्तुना ।

वीणापुग्गस्मरं गाने क्रियाः प्रच्छेदको मतः, ॥

त्रिगूढम्—स्त्रीवेशघातिनां पुनः नाट्यं शृङ्गणं त्रिगूढकम्, ॥

सैन्धवम्—वध्वनं प्रहसकितः सुव्यक्तवरणान्वितः ॥

प्राकृतं यचनं धक्ति यत्र तत् सैन्धवं त्रिगुः ॥

द्विगूढम्—चतुरव्ययं गतिं मुग्धप्रतिमुग्धान्वितम् ॥

उत्तमोत्तमम्—त्रिगूढम्, रसभाषाद्युत्तमोत्तमकं पुनः, ॥

उत्तमायुक्तम्—कोपप्रसादजमधिपेययुक्तं रसोत्तरम् ।

हास्येनान्वितं चित्रलोचनधमनोहरम् ॥

उत्तिग्रन्थुनिर्गुणं सौगन्धममलीकृतम् ।

पिप्पलायिनीगोमार्चमुत्तमायुक्तमुच्यते, ॥ ” इति ।

अन्यद सः साहित्यदर्पणे दृश्यम् ॥ ५३ ॥

प्रहसनाङ्गि—प्रहसनेऽङ्गिभूतस्वरस्य पाण्ड्यादयो विख्याता इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

१ “सङ्गम्” इति पाठान्तरम्

विकृतम्, संकराद्दीध्या संकीर्णं धूर्तसंकुलम् ।

कामुकादयो भुजङ्गचारभटाद्याः तद्वेपभापादियोगिनो यत्र पण्डकञ्चु-
कितापसवृद्धादयस्तद्विकृतम्—स्वस्वरूपप्रच्युतविभावत्वात्, बोध्यङ्गैस्तु
संकीर्णत्वात् संकीर्णम् ।

रसस्तु भूयसा कार्यः पद्विधो हास्य एव तु ॥ ५६ ॥

इति स्पष्टम् ।

अथ डिमः—

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्वावृत्तयः कैशिकीं विना ।

नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ॥ ५७ ॥

भूतप्रेतपिशाचाद्याः शोडशात्यन्तमुद्धताः ।

रसैरऽहास्यशृङ्गारैः पद्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥ ५८ ॥

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्धान्तादिचेष्टितैः ।

चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥ ५९ ॥

चतुरङ्गश्चतुःसंधिनिर्विमर्शो डिमः स्मृतः ।

डिम संघात इति नायकसंघातव्यापारात्मकत्वाद्धिमः, तत्रेतिहासप्र-
सिद्धमिति वृत्तम्, वृत्तयश्च कैशिकीवर्जस्तिस्रः, रसाश्च वीरगौद्रभीमत्सा-
हस्यकरुणभयानकाः षट्, स्थायी ॥ रौद्रो न्यायप्रधानः, विमर्शरहिता-
मुरलप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याश्चत्वारः संघयः साङ्गा, मायेन्द्रजालाद्यनु-
भावसमाश्रयाः (यः) । शेषं प्रस्तावनादि नाटकवन् । एतच्च—

॥ इदं त्रिपुरदाहे ॥ लक्षणं ब्रह्मणोदितम् ।

ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥”

इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेति वृत्तस्य तुल्यत्वं दर्शितम् ।

अथ व्यायोगः—

ख्यातेति वृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥ ६० ॥

हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्दिमवद्रसाः ।

वीरादीनां पञ्चा रसानां स्वरूपेणैव दीप्तत्वं विशेषम् ॥ ५८ ॥

“ डिम संघाते ” इति प्रवृत्तिभूतधातुनिर्देशः ।

तुल्यत्वम्—डिमेति वृत्ततुल्यत्वम् ॥ ६० ॥

रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः ।
 भाणवत्संधिवृत्त्यङ्गैर्युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः ॥ ७१ ॥
 वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ ।

उत्सृष्टिकाङ्क्ष इति नाटकान्तर्गताङ्गव्यवच्छेदार्थम् । अत्रैवं प्रतीतमिति ।
 अथेहामृग —

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्गं त्रिसंधिमत् ॥ ७२ ॥
 नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
 रयातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ॥ ७३ ॥
 दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
 शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥ ७४ ॥
 संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत् ।
 वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ॥ ७५ ॥

मृगजलज्या नायिका नायकोऽस्मिन्ग्राह्ये इतीहामृगः । रयात्तारयात्
 वस्तु, अन्त्य = प्रतिनायको विपर्यासाद्विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विरोधः ।
 स्पष्टमन्यन् ।

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्मणार्ग-
 मालोक्य वस्तु परिभाष्य कविप्रवन्धान् ।
 कुर्यादयत्नवदलङ्कृतिभिः प्रवन्धं
 वाक्यैरुदारप्रवृत्तैः स्फुटमन्दवृत्तैः ॥ ७६ ॥

॥ इति धनजयवृत्तदशरूपकस्य तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ॥
 स्पष्टम् ॥

॥ इति श्रीविष्णुमनोर्बनिरस्य कृतौ दशरूपावलोक्ये रूप-
 लक्षणप्रकाशो नाम तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

अत्रेतिवृत्तं प्रख्यातमेवोपनिबद्धं तस्य प्रपञ्च = विस्तरस्तु षविना स्वयुद्धया
 वर्तय्य । जयराजयासि तथा = वाच्येन विधातव्यौ । स्पष्टमन्यत् ।

मिश्रमित्यस्य ख्याताख्यातमित्यर्थः ॥ ७०—७२ ॥

अत्यन्तप्रतिनायकस्य । अत्र च खेरेकाधयत्नेन शृङ्गाराभासस्य विशेषम् ॥ ७४ ॥

मन्त्रमन्त्र = मन्त्रपात्रेण = अद्विष्टमित्यर्थः, द्विष्टरचनाभाषाउत्तममात्र ।
 स्फुटै = स्फुटै, मन्दै = मन्दै, वृत्तै = वृत्तै । स्पष्टमन्यत् ॥ ७६ ॥

॥ इति मध्यमेकदशरूपकवृत्तप्रकाशस्य प्रमाख्याख्याख्या समाप्ता ॥

अथ
चतुर्थः प्रकाशः

अथेदानीं रसभेदः प्रदर्श्यते—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।

आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ १ ॥

वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यान्निर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरताम्-निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः, तेन रसिकाः सामाजिकाः, काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवद् आयुर्धृतमित्यादिव्यपदेशवत् ।

तत्र विभावः—

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।

आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥ २ ॥

‘एवमयम्’ ‘एवमियम्’ इत्यतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः स आलम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकालादिर्षा स विभावः यदुक्तम्—“विभाव इति विज्ञातार्थ

चतुर्थप्रकाशमारभते—विभावैरित्यादिना ।

स्वाद्यत्वम्=पुष्टावस्थाम् ।

निर्भरेति—निर्भर आनन्दो यत्र सविदि-ज्ञाने तदात्मता विपुलानन्दमयशान्तिरूपतामितियावत् । तेनेति—तादृशसविदात्मकरमस्य चेतने एव संभवात् सामाजिका एव रसिका इत्यर्थः । यथाऽऽयुर्धृतिहेतुत्वेन घृते आयुर्मुपचर्यते ‘आयुर्धृतम्’ इति तथा काव्यस्य तथाविधानन्दसंविद-आनन्दात्मज्ञानस्य रूपरसस्योन्मीलनहेतुभावेन=उन्मीलनहेतुत्वेन=उद्बोधहेतुत्वेन काव्ये रसवत्त्वमुपचर्यते ‘रसवत् काव्यम्’ इत्याह—काव्यमिति ॥ १ ॥

एवमिति—‘अयं काम एव’ ‘इयं रतिरेव’ एतादृशो योऽतिशयोक्त्यादिरूपः काव्यव्यापारस्तेनाहितः स्यादिति यद् विशिष्टरूपं कामादिरूपं तादृशविशिष्टरूपतया ज्ञायमानः । विभाव्यमान इत्यस्य ज्ञायमान इति व्याख्या । आलम्बनत्वेन ज्ञायमानो नायकादिरालम्बनविभावः, उद्दीपनत्वेन ज्ञायमानोऽभिमतदेशकालचन्द्रादिरुद्दीपनविभावः । विभावपदस्य ज्ञायमानार्थकत्वे प्रमाणमाह—यदु-

अर्क्षीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥ ६१ ॥

एकाशंचरितैकाङ्क्षो व्यायोगो बहुभिर्नरैः ।

व्यायुज्यन्तेऽस्मिन्वहवः पुराण इति व्यायोगः, तत्र हिमरद्रसाः पद-
हास्यशृङ्गाररहिताः । वृत्त्यात्मकत्वाच्च रसानामयचनेऽपि कैशिकीरहिते-
तरवृत्तित्वं रसदेवं लभ्यते । अर्क्षीनिमित्तश्चात्र संग्रामो यथा परशुग-
मेण पितृवधकोपात्सहस्राजुनयः कृतः । श्रेयं स्पष्टम् ।

अथ समवकारः—

कार्यं समवकारेण आमुखं नाटकादिवन् ॥ ६२ ॥

रुपातं देवाम्बुरं वस्तु निर्विमर्शस्तु संधयः ।

वृत्तपो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः ॥ ६३ ॥

द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक्पृथक् ।

बहुवीररसाः सर्वे यद्दम्भोधिमन्यते ॥ ६४ ॥

अङ्गुलिभित्तिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः ।

द्विसंधिरङ्गः प्रथमः कार्यो द्वादशनौलिकः ॥ ६५ ॥

चतुर्दिनौलिकावन्त्यौ नौलिका घटिकाद्वयम् ।

वस्तुस्वभावदेवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ॥ ६६ ॥

नगरोपरोधयुद्धे वातान्यादिकविद्रवाः ।

धर्मार्थकार्मेः शृङ्गारो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ ६७ ॥

वीध्यद्भानि यथाशर्म कुर्यात्सहसने यथा ।

रसदेवेति—यथा हास्यशृङ्गाररहिताः पदेव वीरयमो रसा अत्र कार्यं एव कै-
शिकीवृत्तिरहितस्याऽवचनेऽपि कैशिकीभिन्नवृत्तयः कार्या इति लभ्यते किं च
कैशिक्याः शृङ्गारप्रधानत्वाच्च शृङ्गाररसनिवृत्त्या कैशिक्या अपि निवृत्तिलभ्यते
इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

मन्दकैशिक्यः—मन्दा अस्या कैशिकी यासु ता मन्दकैशिक्यः ॥ ६३ ॥

वस्तुस्वभावकृतो देवकृतोऽरिक्तभेति त्रयः कपटाः । नगरोपरोधकृतो युद्ध-
कृतो वातान्यादिकृतभेति त्रयो विद्वन्—अष्टव्यः । प्रवेशकत्वाच्च, प्रथमाद्वय-
शान्ते द्रष्टव्यम् । मुखप्रतिमुखे प्रथमाङ्के, गर्भो द्वितीयाङ्के, निर्वहण तृतीयाङ्के ।

१ “ नाटिकः ” इत्यपि पाठः । २ “ नाटिका ” इत्यपि पाठः ।

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्थे इति समप्रकारः । तत्र नाटकादिवदामुलमिति समस्तरूपकाणामामुलप्रापणम् । विमर्शवर्जिताश्चत्वारः संख्यः, देवामुरा-
दयो द्वादश नायकाः तेषां च फलानि पृथक्पृथग्भवन्ति यथा समुद्रम-
न्यने वासुदेवादीनां लक्ष्म्यादिलामाः, वीरश्वाङ्गी अङ्गभूताः सर्वे रसाः,
त्रयोऽङ्का तेषां प्रथमो द्वादशनालिकानिर्वृत्तेतिवृत्तप्रमाणः यथासंख्यं
घतुर्दिनालिकावन्त्यौ, नालिका च घटिकाद्वयम् । प्रत्यङ्गं च यथासंख्यं
कपटाः तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्यादिविद्रवाणां मध्य एकैको विद्रवः
कार्यः । धर्मार्थकामशृङ्गाराणामेकैरुः शृङ्गारः प्रत्यङ्गमेव विवातव्यः ।
वीध्यङ्गानि च यथाज्ञातं कार्याणि । विन्दुप्रवेशकौ नाटकीक्तावपि न
विवातव्यौ । इत्ययं समप्रकारः ।

अथ वीथी—

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ संध्यङ्गाङ्गस्तु भाणवत् ॥ ६८ ॥

रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम् ।

युक्ता प्रस्तावनाख्यातेरङ्गैरुद्धात्यकादिभिः ॥ ६९ ॥

एवं वीथी विधातव्या द्वयेकपात्रप्रयोजिता ।

वीथीवद्विधी मार्गः अङ्गानां पङ्क्तिर्वा, भाणवत्कार्या । विशेषस्तु रसः
शृङ्गारोऽपरिपूर्णत्वाद्भूयसा सूच्यः, रसान्तराण्यपि स्तोकं स्पर्शनीयानि ।
कैशिकी वृत्तौ रसौचित्यादेवेति । शेषं स्पष्टम् ।

अथाङ्कः—

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चेत् ॥ ७० ॥

सर्वेषां नायकानामर्थाः=प्रयोजनानि समवकीर्यन्ते=एकत्रीभयन्त्यत्रेति सम-
प्रकार इत्यर्थः ।

समस्तरूपकाणाम्=समस्तरूपकेषु आमुलप्रापणम्=प्रस्तावनासंबन्धो दर्शितः ।
तेषामङ्गानां मध्ये प्रथमोऽङ्को द्वादशनालिकाभिर्निर्वर्त्यः=संपादनीय इति-
वृत्तस्य प्रमाणं यत् यस्मिन् वा तादृशः कर्तव्य इत्यर्थः । अन्त्यो=द्वितीयतृतीयौ ।
धर्मवत्या सदृशं शृङ्गारो धर्मशृङ्गारः, लोभवशेन प्रवृत्त्याऽर्थशृङ्गारः, परकीया-
दिना कामशृङ्गार इतिविवेकः ॥ ६६-६७ ॥

युक्तेति=प्रस्तावनायाः स्यात् ।=उत्सृष्टधात्यकादिमिरङ्गैर्बुद्ध्या वीथी कर्त-
व्येत्यन्वयः ॥ ६९ ॥ भूयसा=विशेषतः ।

उत्सृष्टिकाङ्केति—"नाटक संपकरणम्" इत्युद्देश्यावये य उत्सृष्टस्तस्मिन् ।

इति" ताश्च यथास्व यथावसर च रसेपूपपादयिष्याम । अमीषा चानपे-
क्षितप्राप्तसत्त्वानां शब्दोपधानादेवाऽऽस्तादिततद्भावानां सामान्यात्मना
स्वस्वसंबन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमाना-
नामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता । तदुक्तं भर्तृहरिणा—

“शब्दोपहितरूपास्तान्बुद्धेर्विषयता गतान् ।

प्रत्यक्षमिव वसादीन्साधनत्वेन मन्यते ॥” इति ।

पन्सहस्रीकृताप्युक्तम्—“एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते”
इति ।

तज्जालम्बनविभावो यथा—

“अस्यां सर्गविधौ प्रजापतिरभूचन्द्रो नु कान्तिप्रदः

शृङ्गारैकानिधि स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

वेदाभ्यासजडं कथं नु विषयव्यावृत्तवैतहलो

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः”

उद्दीपनविभावो यथा—

“अवमुदयति चन्द्रश्चन्द्रिकाधौतनिध

परिणतविमलिम्नि व्योम्नि कर्पूरगौर ।

ऋजुरजतशलाकास्पर्धिभिर्षस्य पादै-

र्जगद्मलमृणालीपञ्जरस्य विभाति ॥”

• अनुभावो विकारस्तु भावसमूचनात्मकः ।

उक्तमिति । तान् विभाषात् । यथास्वम्-यथाक्रमेण निर्देशक्रमेणेति यावत् । अमी
षामन्विभावानाम् । चन्द्रादिविभावानां कृष्णपक्षादावपि काव्यलक्षणशब्दोपाधि
यभात् । सद्भावो भवतीत्याह-अनपेक्षतेति । सामान्यात्मनाम्-साधारणीभूतानाम् ।
स्वपदं रसिकपरं रसपरं वा । विभावितानामन्विज्ञातानाम् । आलम्बनादिमत्त्व-
आलम्बनादित्वम् । उक्तभाषार्थानां यदि भावकचेतसि वर्तमानत्वं न एवातदा
रूपादपि वस्तुशून्यता न वैतमस्यतीत्यर्थं, पदार्थस्य बीजत्वेऽपि वस्तुशून्यताया अस्ती
वापत् । उक्ते प्रमाणमाह-तदुक्तमिति । साधनत्वेन-कर्मकारकत्वादिना वक्ष्यत्वादि
नेति यावत् । एभ्यः-विभावेभ्यः । सामान्यगुणयोगेन साधारणीकृत्येभ्य इत्यर्थः ।

• साधारणीकरणं च “न मयैवैते” इत्यादिना काव्यप्रकाशे द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥

अनुभाव इति-रूपादिभावस्य समूचनात्मकं समूचको विराट्-भूविश्वोप-
दिष्टानुभाव इत्युच्यते ।

स्थायिभावानऽनुभावयन्त सामाजिकान् सभूविशेषकटाक्षादयो रस-
पोषकारिणोऽनुभावा, एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभाव्यता साक्षाद्भाव-
कानामनुभवकर्मतया अनुभूयन्ते इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु व्यपदि-
श्यन्ते । विकारी भावससूचनात्मक इति तु लौकिकरसापेक्षया इह तु
तेषां कारणत्वमेव । यथा ममैव—

‘उज्जृम्भाननमुद्धसत्कुचतट लोलभ्रमद्भूत

स्वेदाम्भ स्रपिताङ्गयष्टिगिरिद्वीड सरोमाश्रया ।

धन्य कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिता सस्पृह

मुग्धे दुग्धमहाब्जिफेनपटलप्रख्या कटाक्षच्छटा ॥’

इत्यादि यथारसमुदाहरिष्याम ।

हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः मन्व्यवहारतः ॥ ३ ॥

तयोर्विभावानुभावयोर्लौकिकरस प्रति हेतुकार्यभूतयोः सन्वयवहारा-
देव सिद्धत्वात् प्रयग्लक्षणमुपयुज्यते तदुक्तम्—“विभावानुभावौ लो-

स्थायीति—सामाजिकान् प्रति स्थायिस्थायिभावानऽनुभावयन्तो भूविशेषा
दयोऽनुभावा विज्ञेया । एते च भूविशेषादयो वे भावका अस्ति अनुभवक
तस्तेषां साक्षादनुभवकर्मतयाऽनुभूयन्ते इति व्युत्पत्त्या अनुभवनम्—रत्यादेरनु
पश्चाद्भवन्तीति व्युत्पत्त्या चाभिनयकाव्ययोरनुभावा इति व्यपदिश्यन्ते । “अभि-
नयकाव्ययो ॥ इत्यस्य “ अनुभाव्यताम् ” इत्यनेन यान्वय । भूविशेषा
दीनां यद् विकारत्वम्=कार्यत्वमुच्यते तल्लौकिकरसापेक्षया लौकिकरसे सत्येव
भूविशेषादीनां लोके सभवात्, इह—अलौकिकरसे तु तेषाम्=भूविशेषादीनां
कारणत्वमेव—अभिनयकाव्ययोरनुभावादिभिर्विना रसोत्पत्तेरसभवात् “ विभा-
वानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः । ” इति सिद्धान्तात् । लोके नापि
नायकयोर्गृहकारादि स लौकिकरसस्तेन लौकिकरसेन भूविशेषादयो नायन्ते
इति तेषां तत्र कार्यत्वम्, अभिनयनाल्याभ्यां य खलु सामाजिकैरुत्पाद्यते
सोऽलौकिकरस स त्वनुभावादिक विना न सपद्यते इति तत्र तेषां कारणत्व
मिति विवेकः ।

तयोरिति—लौकिकरसे आलम्ब्योद्दीप्तविभावयोर्हेतुत्वमनुभावानां च कार्य-
त्वमस्तीति तादृशहेतुकार्यभूतयोर्विभावानुभावयोः सन्वयवहारादेव=लोकव्यवहारा
देव सिद्धत्वात्=ज्ञातत्वात् तयोः प्रयग्लक्षणं नोच्यते—अत्रालौकिकविभावानु-
भावयोरेव लक्षणस्य वक्तव्यत्वान् किं बाऽलौकिकविभावानुभावसदृशाने

वसांसिद्धौ लोकयात्रानुगामिनौ लोफस्वभावोपगतत्वाच्च न पृथग्लक्षणा-
मुच्यते” इति ।

अथ भावः—

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।

अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिगम्यमानैः सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भाव-
कचेतसो भावनं वासन भावः वदुक्तम्—“अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन वा
सर्वमेतद्भावितं वासितम्” इति ।

यत्तु “रसान्भावयन्भावः” इति “कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भावः” इति
च तद् अभितयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम् ।
ते च स्थायितो ध्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणा ।

पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावस्वेऽपि सात्त्विकाः ॥ ४ ॥

सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ।

लौकिकविभावानुभावी विशेषाविति न पृथग् लक्षणावचनापेक्षतः । पृथग्लक्षणा
नुरयोगे प्रमाणमाह—तदुक्तमिति । लोकयात्रानुगामिनौ—नेत्रव्यवहारानुकूलौ ।
स्पष्टमन्यत् ॥ ३ ॥

अनुकार्याश्रयत्वेन—श्रीरमादिगतत्वेन । वासनम् तदपेक्षितं—दुःखादिभवनम्
तद्भावस्येति भावक(रसिक)चेतसो विरागणम् । तद्भावस्य—तदेकतानस्य,
भावनम्—तदेकतानता ।

ननु त्वया हि भारुचेतसो भावनाद्भावत्व भावस्योक्तं प्राचीनैस्तु “रमान्
भावयन् भावः” “कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भावः” इत्येव रसभावकत्वेन
कविद्वयभावभावकत्वेन च भावस्य भावत्वमुक्तमिति प्राचीनैर्विरोधः प्राप्तः
इत्याशङ्क्याह—यत्स्थितिः, मया हि रसिकसमवेतभावभेदस्यार्थ उक्तः, प्राचीनानां
तत् भावपदार्थाभिधानं तु “भावात्मक काव्यम्” “भावात्मकोऽभिनयः”
इत्येव काव्याभिनययोः प्रवर्तमानस्य (रोधकस्य) भावस्यास्तीति विषयभेदान्न
विरोधः । काव्यस्य रसभावकत्वम् अभिनयस्य च कविद्वयभावभावकत्व
मुत्पद्यमेव ।

ते=भावाः ।

पृथगिति—वक्ष्यमाणा अधुना तादयोऽणवनुभावा अपि साहित्यशास्त्रसंज्ञेन
सात्त्विकभावा इत्युच्यन्ते वेगा सत्त्वात् समुत्पद्यमानत्वात् तत्त्वतः न तच्च तद्भाव-
भावनम्—तद्भावस्य—भावकचेतसः सुखदुःखादिभिर्भावनं वासनमित्यन्वयः ।

परगतदुःखहर्षादि भावनायामऽत्यन्तानुमूलान्त करणत्वं सत्त्वं यदाह—
 “सत्त्वं नाम मन प्रभवं तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते, ण्तदेवास्य सत्त्वं
 यतः खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाश्चादयो निर्वर्त्यन्ते, तेन सत्त्वेन
 निर्वृत्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावा
 भावसंसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेवाम् । ” (इति)

ते च—

स्तम्भप्रलयरोमाश्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू ॥ ५ ॥

अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता ।

प्रलयो नष्टसंज्ञत्वम्, शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ॥ ६ ॥

यथा—

वेवंइ १ सेवदवदनी २ रोमश्चिअ गत्तिए ववइ ३।

धिललुलु तु बलअ एहु बाहोअल्लीए रणेसि ॥

मुहऊ सामलि होई ४ रणे विमुच्छइ विअग्घेण ५ ।

मुद्धा मुहअल्ली तुअ पेग्गेण सावि ण थिज्जइ ॥ ”

अथ व्यभिचारिणः, तत्र सामान्यलक्षणम्—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।

स्थापिन्युन्मग्ननिर्गन्ताः कल्लोला इव वारिधौ ॥ ७ ॥

मन.प्रभवम्=मनोविचारविशेष । तत्-सत्त्वम्, सादृशसात्त्विकमनोपिकार
 एकाग्रमनसो ज्ञायते । निर्वृत्ता-सजाता । सात्त्विकास्त एव भावा इति सात्त्विक-
 भावा इत्यर्थः । तत् इति-तत=सत्त्वादुत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावा भा-
 वसंसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा अप्युच्यन्ते इत्येवाम्-सात्त्विकाना द्वैरूप्यम्
 भावत्वमनुभावत्व च सिद्धम् ॥ ४ ॥

ते=सात्त्विकभावा । स्तम्भलक्षणमाह-स्तम्भ इति । प्रलयलक्षणमाह-प्रलय
 इति, नष्टसंज्ञत्वम्-मूर्छा । वैवर्ण्यम्=भावविशेषेण गद्गदकण्ठता । स्पष्टमन्यदि
 न्याह-शेषा इति ॥ ६ ॥

१ “ वेपथे १ स्वेदवदना २ रोमाश्च गात्रे वपति ३ ।

विलोलस्ततो बलयो लघु बाहुवङ्गा रणति ॥

मुरा इयमल भवति ४ क्षण विमूर्च्छति विदग्धेन ५ ।

मुग्धा मुरावद्गी तव प्रेम्णा सापि न धैर्य करोति ” इति च्छाया ।

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला च्छवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ
स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुप्येन चरन्तो वर्तमाना
निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः । ते च—

निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमघृतिजडताहर्षदेन्यौघ्यचिन्ता-

स्वासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः ।

ब्रीडापस्मारमोहाः सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्या

ध्याध्युन्मादौ विपादोत्सुकचपलयुतास्त्रिशदेते त्रयश्च ॥८॥

तत्र निर्वेद —

तत्त्वज्ञानापदीर्घ्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।

तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैषण्योच्छ्वासदीनताः ॥ ९ ॥

तत्त्वज्ञानाभिर्येदो यथा—

“प्राप्ता श्रियः सखलकामदुघास्ततः किं

दत्तं पदं शिरसि विद्विषता ततः किम् ।

संप्रीणिता, प्रणयिनो विभवैस्ततः किं

फलं स्थितं तनुमृता तनुभिस्ततः किम् ॥”

आपदौ यथा—

“राक्षो विपद्बन्धुवियोगदुःख देशत्र्युतिर्दुर्गममार्गक्षेत्रः ।

आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः फलं मयैतच्चिरजीवितायाः ॥”

ईर्ष्यातो यथा—

“न्यकारो हयमेव मे यद्वयस्तत्राप्यसौ तापसः,

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसमष्टाजीवत्यहो राक्षसः ।

धिग्विभ्रंशजितं यत्रोदितयना किं कुम्भकर्णेन वा

स्वर्गप्राप्तिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ॥”

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारि निर्वेदो यथा—

“ये बाह्वो न युधि वैरिकठोरकण्ठ-

पीठोच्छलद्बुधिरराजिविराजितासाः ।

नापि प्रियापृथुपथोघरपत्रमङ्ग-

सक्रान्तकुङ्कुमरसाः खलु निष्फलास्ते ॥”

तत्र-निर्वेदे चिन्तादयो भवन्तीत्यन्वयः ।

आत्मानुरूपं रिपुं रमणीं वाऽलभमानस्य निर्वेदादियमुक्तिः । एवं
रसान्तराणामप्यङ्गभाव उदाहार्यः ।

रसानङ्गः स्वतन्त्रो निर्वेदो यथा—

“कस्त्वं भोः कथयामि दैवहृतकं मां विद्धि शास्त्रोदकं
वैराग्यादिव वाक्षि साधु विदितं कस्माद्यतः श्रूयताम् ।

वामेनात्र वदस्वमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते

न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥”

विभावानुभावरसाङ्गाऽनङ्गभेदादङ्गेकशास्त्रो निर्वेदो निर्दर्शनीयः ।

अथ ग्लानिः—

रत्याद्यायासतृदक्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्पाणतेह च ।

धैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रियाः ॥ १० ॥

निधुवनकलाभ्यासादिश्रमतृदक्षुद्भिमनादिभिर्निष्पाणतारूपा ग्लानिः
अस्या च धैवर्ण्यकम्पानुत्साहादयोऽनुभावाः ।

यथा माधे—

“लुलितनयनताराः क्षामवक्त्रेऽनुविन्धा

रजनय इव निद्राङ्गान्तनीलोत्पलादयः ।

विमिरमिव दधानाः स्त्रंसिनः केशपाशा-

नवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्ध्वारबधः”

शेषं निर्वेदवद्भूतम् ।

अथ शङ्का—

अनर्थप्रतिभा शङ्का परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात् ।

कम्पशोपाभिबीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ॥ ११ ॥

रसान्तराणामिति षड्वचसो निरूपितत्वं तथा च निर्वेदे रसान्तरनिरूपिताङ्ग-
भाव एवरीत्या स्वयमुदाहार्य इत्यर्थः ।

“कस्त्वभो” इत्यत्र कस्यचिदपि रसस्याऽप्रकाशनाद् निर्वेदस्यैव प्राधान्य
रसाऽनङ्गत्वं च विशेषम् ।

विभावेति—विभवानुभावरसानामङ्गभूतः अनङ्गभूतश्च निर्वेद इत्यनेनप्रकारे
भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

निधुवनम्=मुरतम् । निष्पाणता=भ्रान्तिरिति यावत् ।

शेषम्=रसाद्यङ्गत्वमनङ्गत्वं च ।

तत्र परकौर्याद्यथा रत्नावल्याम्—

“ हिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वालापं कलयति कथामात्मविषयाम् ।
सर्गापु स्मेरामु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ने हृदयनिहितातद्विवुरा ॥ ”

रत्नदुर्नयाद्यथा वीरचरिते—

“ दूराद्वीयो धरणीधराभं यस्ताटेकेयं नृणवग्रधूनोत् ।
हन्ता सुबाहोरपि ताडकारिः स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ॥ ”

अतया विशान्यदनुसर्तव्यम् ।

अथ श्रमः—

श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः ।

अध्यतो यथोत्तररामचरिते—

“ अलसलुलितमुग्धान्यध्वसंजातरेदा-
वृक्षिस्थिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुर्यलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम धृश यत्र निश्रामवाप्ता ॥ ”

गतिश्रमो यथा माघे—

“ प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्बहस्तनमराः सुरतस्य ।
शश्रमुः श्रमजलाद्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥ ”

इत्याद्युल्लेख्यम् ।

अथ धृतिः—

संतोपो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत् ॥ १२ ॥

ज्ञानाद्यथा भर्तृहरिदातके—

“ वयमिह परितुष्टा वत्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोपो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥ ”

अन्यत्—रसाद्यङ्गत्वमनङ्गत्वं च अनुसर्तव्यम्—स्वयमुदाहार्यम् ।

अव्यग्रभोगकृत्—अव्यग्रत्वपूर्वमभोगप्रयोजनैतियावत् । धैर्याभावे हि व्यग्रता
भवति न धैर्यं सतीति भावः ।

शक्तितो यथा रत्नावल्याम्—

“ राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्त समस्तो भर
सम्यक्पालनपालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजा ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्व चेति नाम्ना धृति
काम काममुपैत्वय मम पुनर्मन्ये महानुत्सव ॥ ”

इत्याद्यूलम् ।

अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।

अनिमिषनयननिरीक्षणतृष्णीभावादयस्तत्र ॥ ११ ॥

इष्टदर्शनाद्यथा—

“ एयमालि निगृहीतसाध्वस शकरो रहसि सेव्यतामिति ।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥ ”

अनिष्टश्रवणाद्यथोदात्तराधवे—“ राक्षस —

तावन्तस्ते महात्माना निहता केन राक्षसा

येषा नायकर्ता यातास्त्रिशिर ररदूषणाः ॥

द्वितीय — गृहीतधनुषा रामहृतेकेन । प्रथम — किमेकान्तिदैव । द्वितीय
अष्टष्टा क प्रत्येति, पश्य तावतोऽस्मद्वृत्तयः—

सद्यश्चिन्तनगिरि श्वभ्रमज्जत्कङ्कुकुलाकुला ।

कथन्था देवल जातास्तालोत्ताला रणाङ्गणे ॥

प्रथम — सखे यद्येव तदाहमेवविध, किं करवाणि ।” इति ।

अथ हर्ष —

प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः ।

प्रियागमनपुत्रजननोत्सवादीविभावैश्चेत प्रसादो हर्ष तत्र चाश्रुस्वेद-
गद्गदादयोऽनुभावा यथा—

■ आयाते दयिते मरुत्यल्मुवामुत्येक्ष्य दुर्लभता

गेहिन्या परितोषघ्राणकलिलामासज्य दृष्टिं मुरे ।

दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान्त्वेनाश्वलेनादरा-

दुन्मृष्ट करमस्य केसरसटामारापलभं रज ॥ ”

“ किं करवाणि ” इत्यनेन जडता व्यन्यते—वर्तव्यताशानविगमात् ।

प्रसत्ति—प्रसाद ।

निर्वेदवदितरदुःश्रेयम्

अथ दैन्यम्—

दौर्मत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं काष्ण्यामृजादिमत् ॥ १४ ॥

दारिद्र्यन्यकारादिविभावेरनौजस्वता चेतसो दैन्यं तत्र च कृष्णता-
मलिनयसनदशनादयोऽनुभावाः यथा—

■ दृष्टोऽन्धः पतिरेष मध्वक्कगतः स्थूणावशेषं गृह
कालोऽभ्यर्णजलागमः शुशलिनी यत्सस्य धार्तापि नो ।
यन्नात्संचिततैलविन्दुघटिका भमेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसा मुतग्रधूं श्वभूश्चिरं रोदिति ॥ "

शेष पूर्वम् ।

अथौघ्यम्—

दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यकौपैश्चण्डत्वमुग्रता ।

तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १५ ॥

यथा वीरचरिते—“आमदग्न्यः—

उत्कृत्योत्कृत्य गर्मानपि शकलयत क्षत्रसंतानरोषा-

दुहामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंदयान् ।

विश्वं तत्रैकपूर्णहृदसवनमहानन्दमन्वायमान-

क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥ "

अथ चिन्ता—

ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताभासतापकृत् ।

यथा—

■ पक्ष्माग्रप्रयिताशुविन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभिः

कुर्वन्त्या हरहासहारि हृदये हारावलीभूषणम् ।

वाले घालमृणालनालबलयालङ्कारकान्ते करे

विन्यस्थाननमायताक्षि सुकृती कोऽयं त्वया स्मर्यते ॥ "

यथा वा—

■ अस्तमितविष्वसद्वा मुमुलितनयनोत्पला बहुश्रसिता ।

इतरत्=पुनरन्मादिजन्यो हर्षो निर्वेदवद् उत्रेय=स्वयमुदाहार्य ।

शेषम्-रसाज्ञानज्ञादि, पूर्ववत्=स्वयमुदाहार्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

ध्यायति किमप्यलक्ष्यं बाला योगाभियुक्तेव ॥ ”

अथ त्रासः—

गर्जितादेर्भनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ॥ १६ ॥

यथा माधे—

“ प्रस्यन्ती चलशफरीविघटितोरू-
र्धामोत्तरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
क्षुब्धन्ति प्रसभमहो विनापि हेतो-
र्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः ॥ ”

अधासूया—

परोत्कर्षाक्षमाऽसूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा ।
दोषोक्त्यवज्ञे भुङ्कुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥ १७ ॥

गर्वेण यथा वीरचरिते—

“ अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
दृष्टान्दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तथा कन्यका ।
उत्कर्षे च परस्य मानयशसोर्विभ्रंसनं चात्मनः
स्वीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो हस्तः कथं मृष्यते ॥ ”

दौर्जन्यादथा—

“ यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
नहि परयशो निन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम् ।
विरमसि न चेदिच्छाद्रेपप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुद्वभ्रममेष्यसि ॥ ”

मन्युजा यथामरुशतके—

“ पुरस्तन्व्या गोत्रसप्रलनचकितोऽहं भवमुतः ।
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्मिकमपि लिखितुं देवदत्तकः ।
सुदृढो रेखान्यासः कबमपि स तादृक्परिणतो
मता येन व्यक्तं पुनरवयवैः सैव तरुणी ॥ ”

योगाभियुक्तेव=योगिनीव ॥ १५ ॥

त्रास=भयम् । अत्र श्रोत्र=मनसो मयप्रणता ।

दोषोक्त्यादयोऽनुमारा अगूयायां मिथ्याः । अत्रेति शेषः ।

ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
 मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद्गद्गदगिरा ।
 अहो चित्रं चित्रं सुटमिति निगद्याश्रुक्लुपं
 रुपा प्रह्लासं मे शिरसि निहितो वामचरणः ॥”

अधामर्षः—

अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
 तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १८ ॥

यथा वीरचरिते—

“प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
 न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रमहमहाव्रतम् ॥”

यथा वा वेणीसंहारे—

“युष्मच्छासनलङ्घनान्भसि मया मयेन नाम स्थितं
 प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
 क्रोधोलसितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
 नऽधैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥”

अय गर्वः—

गर्वोऽभिजनलावण्यवलम्ब्यर्थादिभिर्मदः ।
 कर्माण्यार्धर्पणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥ १९ ॥

यथा वीरचरिते—

“मुनिरयमय वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
 विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियासि ।
 तपमि विततक्रीतेर्दर्पकण्डूलदोष्णः
 परिचरणसमर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥”

यथा वा तत्रैव—

“श्रावणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
 जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥”

अभिनिविष्टता=अभिनिवेशः, असह्यमितियावन ॥ १८ ॥

कर्माणीति—गर्वेणाऽऽधर्पणाऽवज्ञा सविलासं स्वाङ्गवीक्षणं च जायते ॥ १९ ॥

अथ स्मृतिः—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च ।

ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुद्भवनादयः ॥ २० ॥

यथा—

“मैनाक किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमन्याहृतं

शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भूतो महेन्द्रादपि ।

तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मा रावण-

माः ज्ञातं स जटायुरेव जरसा श्लिष्टो वधं वाञ्छति ॥”

यथा वा मालतीमाधवे—“माधव—मम हि प्राक्तनोपलम्भसंभारि-
जात्मजन्मन संस्कारस्यानवरतप्रयोधात् प्रतीयमानस्तादृशसदृशं प्रत्ययान्त-
रैरातिरिक्तप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसतानस्तन्मयमिव करोति
वृत्तिसारुप्यतश्चेतन्यम्—

“लीनेव प्रतिबिम्बितेन छिरिनेनेपोत्कीर्णरूपेव च

प्रत्युमेव च वज्रसारपटितेनान्तर्निरयातेव च ।

सा नक्षेतसि कीलितेव विशिगीधेतोमुवः पञ्चमि-

श्चिन्तासंततितन्तुजालनिविडस्यूतेव लम्बा प्रिया ॥”

सदृशेति—सदृशप्रदार्थज्ञानादिना पूर्वमुत्पन्नस्य संस्कारस्योद्भेदो भवति तेनो-
द्भेदेन च संस्कारेण स्मृतिर्भावो, सा च स्मृतिर्ज्ञातत्वेन रसरिपयस्य भासिका
भरतीत्यर्थः

प्राक्तनेति—प्राक्तनेनोपलम्भेन—माहात्म्यकारेण संभावितम्—ज्ञानमाऽऽत्म-
स्योत्पत्तिर्यथैवादाससंस्कारस्य निरन्तरप्रयोधात् प्रतीयमाना प्रतीयमानो वा तद्विग-
ह्यौ.—स्वयिरुद्धे प्रत्ययान्तरे—ज्ञानान्तरेतिरिक्तप्रवाह—अनिवृत्त प्रियामा-
शिरपयस्य स्मृतिप्रत्ययस्य—स्मृतिप्रत्ययज्ञानस्य संग्रह—परमरा (समुदाय)
तन्मयमिव—प्रियतमामयमिव करोति यैत्रयम्—अत्मानं युगिमाह्वय इति. अ-
न्त ररास्य शिरपयस्य परिणामो युगि युगिमाह्वयं हि युगिमाह्वयं युगो
भासमानप्रदार्थेद्वतानुतिपाद्यं अत्यन्तं पञ्चविधेनैकाननं च प्रमिद्वेव, ग-
प्रियास्मरणं ममात्मानं प्रियमयमिव करोति युगे प्रियेद्वरापयस्यादिति भावः ।
योगशास्त्रसन्तपन्तं न वेदोद्वेगमिदं वचनम् । उक्तं च “युगिमाह्वयमि-
दम् ” इति ।

अथ मरणम्—

‘मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते ।

यथा—

“संप्राप्तेऽवधिवसरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
वारंवारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किंचिद्विरम् ।

संप्रत्येव निवेद्य केलिकुररीं सार्धं सखीभ्यः शिशो-

र्माधव्या, सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः ॥”

इत्यादिवच्छृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनी-
यम् । अन्यत्र कामचारो यथा वीरचरिते—“पश्यन्तु भवन्तस्ताडकाम्-

हन्मर्मभेदिपतदुत्पटकङ्कपत्रसंवेगतक्षणरुतस्फुरदङ्गभङ्गा ।

नासाकुटीरखड्गद्वयतुल्यनिर्यदुद्गुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ॥”

अथ मद—

हर्षोत्कर्षो मदः पानात्स्खलदह्वचोगतिः ॥ २१ ॥

निद्रा हासोऽन रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु ।

यथा माये—

“हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः ।

चकिरे भृशमृजोरपि क्त्वा कामिनेव तरुणेन मदेन ॥”

इत्यादि ।

अथ सुप्तम्—

सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रिया परम् ॥ २२ ॥

नोच्यते= न लक्ष्यते ।

शृङ्गारश्रयालम्बनत्वेनेति—यमुद्दिश्य भाव प्रवर्तते स तस्य आलम्बनमित्यु-
च्यते प्रियमुद्दिश्य मरणे हि ॥ प्रिय एव मरणस्यालम्बनं स्यादिति प्राप्तं तथा च
शृङ्गारस्य य आश्रय प्रियो वा प्रिया वा तादृशालम्बनत्वेन नाम तादृशशृङ्गारा-
श्रयमुद्दिश्य मरणे व्यवसायमात्रं प्रदर्शनीयमुत्पद्यदिशा न तु साक्षान्मरणमपी-
त्यर्थः । अन्यत्र—शृङ्गारादन्यत्र नु कामचार—स्वातन्त्र्यम्—साक्षान्मरणोपनिबन्धेपि
न दोषः ।

निद्रेति—मदेनोच्ये निद्रा, मध्ये हास, अग्रमे रुदितं जायते ।

सुप्तम्=सुषुप्ति, निद्राहि यस्यमाणरीत्या मनसस्समीलनं सुषुप्तिपूर्वावस्थेति सुषु-
प्तेर्निद्रोद्भवत्वमुचमिति विभावनीयम् ॥ २२ ॥

यथा—

“लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नवकलमपलालसस्तरे सोपवने ।
परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वभारात्
कुचकलशमहोष्मावद्धरेखस्तुपारः ॥”

अथ निद्रा—

मनःसंमीलनं निद्रा चिन्तालस्यकृमादिभिः ।
तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोत्स्वप्नतादयः ॥ २३ ॥

यथा—

“निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थराणि
नाप्यर्यवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
जघापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥”

यथा च माधे—

“प्रहरकमपतीय स्वं निदिद्रास्तोच्चैः
प्रतिपदमुपद्रुतः केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णा निद्रया शून्यशून्यां
दददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥”

अथ विनोदः—

विवोधः परिणामादेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दने ।

यथा माधे—

“चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुरार्णां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रलुब्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणा-
मक्षिधिलभुजचक्राग्रेभेदं तरुण्यः ॥”

परिणामादेरिति—परिणामोऽचरस्थान्तरप्राप्तिस्तथा च निद्रापगमावस्थया वि-
बोधो जायते इत्यभिप्रायः । “परिणामादेः” इत्यत्र ‘परिष्ठापादेः’ इत्या-
दिरूपेण पाठः समाव्यते ।

संरम्भोन्निद्रितानां क्षितिमृति गहनेऽन्योन्यमेवं प्रतीच्छन्
' वादः स्वप्राभिट्टे त्वयि चकितदृशां विद्विषामाविरासीत् ॥ "

इत्यादि ।

"तनुत्राणं तनुत्राणं शस्त्रं शस्त्रं रथो रथः ।

इति शुश्रुविरे विष्वगुद्गताः सुभटोक्तयः ॥ "

यथा वा—

"प्रारब्धां तरुपुत्रकेषु सहसा संत्यज्य सेकक्रिया-

मेतास्तापसकन्यकाः किमिदमित्यालोकयन्त्याकुलाः ।

आरोहन्त्युदजद्रुमांश्च यद्वयो वार्चयमा अप्यमी

सद्यो मुक्तसमाधयो निजवृषीष्वेवोद्यपादं स्थिताः ॥ "

धातावेगो यथा—"वाताहतं वसनमाकुलमुत्तरीयम्" इत्यादि ।

वर्षजो यथा—

"देवे वर्षस्त्यशनपचनव्यापृता वह्निहेतो-

र्गेहाद्रेहं फलकनिषितैः सेतुभिः पङ्कभीताः ।

नीघ्रप्रान्तानविरलजलान्पाणिभिस्ताडयित्वा

शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः संचरन्ति ॥ "

लप्तातजो यथा—

"पौलस्त्यपीनभुजसंपदुदस्यमान-

कैलाससंभ्रमविलोलदृशः प्रियायाः ।

श्रेयांसि वो दिशतु निहृतकोपचिह्न-

मालिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दुमौलेः ॥ "

अद्विष्टतत्त्वनिष्ठदर्शनश्रवणाभ्यां तद् यथोदात्तराधवे—"चित्रमायः

(सप्तभ्रमम्) भगवन् कुलपते राममद्र परित्रायतां परित्रायताम् ।

(इत्याकुलतां नाटयति) " इत्यादि । पुनः " चित्रमायः—

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः ।

नीयते रक्षसानेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥

रामः—

यत्तस्याभयवारिधेः प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसान्

प्रस्तत्रैप मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे संभ्रमः ।

माहासीर्जनक्यात्मजामिति मुहुः स्नेहादुरुर्याचते

न स्यातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चयः ॥ "

इत्यन्तेनानिष्टप्राप्तिकृतसंभ्रमः ।

इष्टप्राप्तिकृतो यथात्रैव—“(प्रविश्य पद्मक्षेपेण संग्रान्तो वानरः) घानरः—
मेहाराभ पदं सु पवणणन्दणागमणेन पहरिस—” इत्यादि “देवेस्त
हिअभाणन्दजणं विअलिदं महुवणम् ।” इत्यन्तम् ।

यथा वा वीरचरिते—

“एल्लोहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
घुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्रहामि
घन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥”

बहिर्जो यथामरुशतके—

“क्षिमो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुकान्तं
गृह्ण्णेशेष्यपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन्वोऽवधूतस्त्रिपुरबुद्धिभिः साश्रुनेत्रोत्प्लवाभिः
कामीवाघ्रापराधः स दहतु दुरितं शांभवो वः शराम्निः ॥”
यथा वा रत्नावल्याम्—

“विरम विरम षडे मुञ्च धूमाकुलत्वं
प्रसरयसि किमुचैरर्चिषां चक्रवालम् ।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयद्रुहन्मासा तस्य किं त्वं करोषि ॥”

करिजो यथा रघुवंशे—

“स चिलत्रन्धद्रुतबुग्यसूत्यं भग्नाक्षपर्येश्वरयं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोर्व सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥”

करिप्रहणं व्यालोपलक्षणार्थं तेन व्याघ्रसुकरवानरादिप्रथवा आवेगा
व्याख्याताः ।

अथ वितर्कः—

तर्को विचारः संदेहाद्भूशिरोहूलिनर्तकः ।

यथा—

“किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
सद्यः स्त्रीलघुतां गता किमयवा मातैव मे मण्यता ।

१ “महाराज एतत्सु पवननन्दनागमनेन प्रहृषे—” । २ “देवस्य हृदयान-
न्दजनने विदलितं मधुवनम्” इति च्छया ।

अथ व्रीडा—

दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्टर्थाभावस्तमुन्नयेत् ।
साचीकृताङ्गावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः ॥ २४ ॥

यथाऽमरुशतके—

“पटालमे पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निमृतम् ।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया साम्यत्यन्तः प्रयमपरिहासे ननवधूः ॥”

अथापस्मारः—

आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाविधिः (धि) ।
भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादयः ॥ २५ ॥

यथा माघे—

“आश्लिष्टभूमिं रसितारमुभैर्लोलमुजाकारवृहत्तरङ्गम् ।
पेनायमानं पतिमापगानामसावऽपस्मारिणमाशशङ्के ॥”

अथ मोहः—

मोहो विचिच्छता भीतिदुःखावेशानुचिन्तनैः ।
तन्नाशानभ्रमायातवूर्णनादर्शनादयः ॥ २६ ॥

यथा-कुमारसंभवे—

“तीव्राभिपद्गप्रभवेन वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥”

यथा चोत्तररामचरिते—

“विनिश्चेतुं शक्यो न सुरमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।

दुष्टचारेति—धाष्टर्थाभावाद् दुराचारादिभिर्व्रीडा जायते न तु धाष्टर्यं सत्य-
पीत्यर्थः । “तम्” इत्यत्र ‘ताम्’ इति वक्तव्यम्—व्रीडापदस्य धीलिङ्गत्वात्
न चैनदपि संभवति वृक्षपद्मप्रसक्त्येत्यत्र ‘धाष्टर्थाभावाद्दुष्टव’ इति
वक्तव्यम् ॥ २४ ॥

यथाविधि—प्रारब्धानुसारेण ग्रहदुःखादिवृत्त आवेशोऽपस्मारः ।

तत्र स्पर्शं स्पर्शं मम हि परिमृष्टेन्द्रियगणो
विचारः कोऽप्यन्तर्भेदयति च तापं च कुहने ॥”.

अथ मनि —

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्भतिः ।

यथा किराते—

“सहसा विदधीत न विद्यामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥”

यथा च—

“न पण्डिताः साहसिका भवन्ति श्रुत्वापि ते संतुल्यन्ति तत्त्वम् ।
तत्त्वं समादाय समाचरन्ति स्वार्थं प्रवृण्वन्ति परस्य चार्थम् ॥”

अथालस्यम्—

आलस्यं श्रमगर्भादेर्जाड्यं जृम्भासितादिमत् ॥ २७ ॥

यथा समैव—

‘चलति कथंचित्पृष्टा यच्छति वचनं कथंचिदालीनाम् ।
आसितुमेव हि मनुते गुरुगर्भभरालमा सुतनुः ॥’

अथावेगः—

आवेगः संभ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनौगाभियोगो
यानात्पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्यर्पणे पिण्डिताङ्गः ।

उत्पातात्स्वस्तताङ्गेप्यहितहितकृते शोकदर्पानुभावा

पक्षेर्धूमाकुलास्पः करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसाराः ॥ २८ ॥

अभिसरो राजविद्रादिः तद्धेतुरावेगो यथा समैव—

“आगच्छागच्छ सज्जं कुरु वस्तुगं संनिभेहि द्रुतं मे
रङ्गः वासौ कृपार्णामुपनय धनुषा किं किमद्भ्यस्त्रिष्टम् ।

भगितम्-रियति, आलस्येन निष्ठित्यर्थः ॥ २७ ॥

अवेग इति—अभिसरजनिते आवेगे शस्त्राणां नगनां गगनां चाभियोगः,
यानात्—यातव्ये आवेगे धूलिधूमरितस्त्वरितपदगतिश्च, यार्थान्वये आवेगे मनु-
चित्तरीरः, उत्पातात्—उत्पातव्ये आवेगेऽङ्गेषु सराणां-निर्गमना, अहितकृ-
तवेगे शोकः, हितकृतावेगे हर्षः, पक्षे-अहिततावेगे धूमेन-कुम्भाम्, करि-
जमनु=करिजन्ये आवेगे भयस्तम्भकम्पापसारादिर्भयतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

१ “मायामभियोगी” इति पाठान्तरम् ।

मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितीयमन्यायांनुजोऽमौ गुरु-
माता तातरलत्रमित्यनुचिनं मन्ये विवात्रा वृत्तम् ॥”

अथवा ।

“कः समुचिताभिषेकादार्यं ग्रन्थायवेदुण्येषम् ।
मन्ये ममैष पुण्यैः सेवावसरः वृत्तो विधिना ॥”

अथावदित्या—

लज्ज्याद्यैर्विक्रियागुप्तावऽवदित्याऽङ्गविक्रिया ।

यथा सुमारसंभवे—

“एवंवादिनि देवर्षी पार्थे पितुरधोमुखा ।
लीलान्मलपत्राणि गणयामास पार्थवी ॥”

अथ व्याधिः—

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ॥ २९ ॥

दिदृशाम्रं तु यथा—

“अच्छिन्नं नयनाम्बु घन्धुषु कृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सरीष्वाहितः ।
अथ खः परनिवृत्तिं प्रजति सा आसौः परं स्विघते
विश्वम्भो भय विप्रयोगजनितं दुःखं विमलं तया ॥”

अथोन्मादः—

अपेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः ।

अस्मिन्नर्वस्या रुदितगीतहासासितादयः ॥ ३० ॥

यथा—“आः क्षुद्राश्च तेषु तेषु क मे प्रियतमामादाय गच्छसि”

इत्युपक्रमे “कथम्—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृष्टनिशाचरः

सुरधनुरिदं दूराकृतं न तस्य शरासनम् ।

अयमपि पटुर्धारासारी न बाणपरम्परा

कनकनिकपस्त्रिणा विलुत्प्रिया न ममोर्वशी ॥ ” इत्यादि ।

लज्जाद्यैरिति—विनियया विनास्तस्य लज्जादिवशेन या शुक्ति—गोपनी साऽव-
दित्या, तत्राङ्गविक्रियाऽनुभावः ।

अन्यत्र—वैद्यकशास्त्रे ॥ २९ ॥

१ “स्यान्” इति पाठान्तरम् ।

अथ विषादः—

भारव्यकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः ।

निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥ ३१ ॥

यथा वीरचरिते—“ हा आर्ये ताढके किं हि नामैतन् अम्युनि म-
ज्जन्त्यलावूनि भावाणः एवन्ते

मन्वेय राक्षसपतेः स्त्रालितः प्रतापः

प्राप्तोऽद्भुतः परिभवो हि मनुष्यपोतान् ।

दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो

दैव्यं जरा च निरुणद्धि कथं करोमि ॥ ”

अथौत्सुक्यम्—

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसंभ्रमैः ।

तत्रोच्छ्वासत्वेराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥ ३२ ॥

यथा कुमारसंभवे—

“ आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शयिन्वे स्तिमितायताश्री ।

हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोरुफलो हि वेषः ॥ ”

यथा वा तत्रैव—

“ पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रदनिनयद्रिमुतासमागमोत्कः ।

कमपरममदां न विप्रदुर्युर्विमुमपि तं यदमी स्मृशन्ति भावाः ॥ ”

अथ चापलम्—

मात्सर्यद्वेपरागादेश्चापलं त्वनयस्थितिः ।

तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥ ३३ ॥

यथा विरटनितम्बायाः—

“ अन्यासु सात्रदुपमर्दसहासु मृद्ध

लोलं विनोदय मनः मुमनोलतासु ।

यातामजातगजसं बलिगामराले

व्यर्थं वदर्थयसि किं नयमल्लिकायाः ॥ ”

“अन्यासु” इत्यत्र अमरकर्मरौ वरन्त ॥ ३३ ॥

यथा वा—

“विनिकपणरणत्कठोरदंष्ट्राक्रकचविशङ्कटकन्दरोदराणि ।

अहमहमिकया पतन्तु कोपात् सममधुनैव किमत्र मन्मुराणि ॥

अथवा प्रस्तुतमेव तावत्सुविहितं करिष्ये ।” इति ।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान् पृथग्वाच्याः ।

अथ स्थायी—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।

आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥ ३४ ॥

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी यथा दृहत्कथायां नरबाहनदत्तस्य मदनमञ्जुकायामनुरागः तत्तद्वान्तरानेकनायिकानुरागैरतिरस्कृतः स्थायी । यथा च मालतीमाधवे श्मशानाङ्के वीभत्सेन मालत्यनुरागस्यातिरस्कारः—“मम हि प्राप्तनोपलम्भसंभावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानगरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसृष्टैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमित्र करोत्यन्तर्द्वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्” इत्यादिनोपनिबद्धः । तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिनां च समावेशो न विरोधी ।

तथाहि—विरोधः सहानवस्थानं वाप्यगावकभावो वा, उभयरूपेणापि

अन्ये इति—एते हि व्यभिचारिणश्चित्तवृत्तिविशेषरूपा एव चित्तवृत्तिविशेषाश्च यद्यप्यन्येऽपि संभवन्ति तथाप्येतेषामेवोक्तानां तेऽपि विभावादित्यरूपेण प्रविशन्तीति न पृथग् वाच्या इत्यर्थः ।

“मम हि” इति वाक्य स्मृतिस्थाने व्याख्यातम् ।

तदनेनेति—उत्तमालतीमाधवादिनिर्दिष्टप्रकारेण अज्ञाज्ञिभावतयेति यावत् । विरोधिनामविरोधिनां भावानाम् ।

विरोधाभावमुपपादयति—तथा हीति । सहानवस्थानम्—एकत्र स्थित्युपयोग्यता । उभयरूपेण—सहानवस्थानवाप्यगावकभावोऽन्ये उभयरूपेणापि भावानां तादात्म्यम्—यिद्वद्वत्वं न संभवति—अस्य भावस्यैकरूपत्वेन—समुदितरूपेण एकत्रीभावेनाऽऽविर्भावात्, उक्तं च भावादीनां प्रमाणवरमन्यायेन मिश्रितरूपेण प्रतीतिरिति विपक्षत्वं तदत्रानुमेषम् । यदि पार्यन्त्येन प्रतीतिः स्यात् तदा स्यादपि वि-

न तावत्तादात्म्यमऽयैकरूपत्वेनैवाविर्भावात् । स्थायिनां च भावादीनां - यदि विरोधस्तत्रापि न तावत् सहानवस्थानम्—रत्याद्युपरक्ते चेतसि स्रस्सूत्रन्यायेनाविरोधिनां व्यभिचारिणां चोपनिन्द्यः समस्तभावकस्व-संवेदनसिद्धः यथैव स्वसंवेदनासिद्धस्तथैव कान्यव्यापारसंरम्भेणानुकार्ये-प्यावेश्यमानः स्वचेतःसंभेदेन तथाविधानन्दसंवेदुन्मीलनहेतुः संपद्यते तस्मान्न तावद्भावानां सहानवस्थानम् ।

वाप्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिरस्कारः स च न स्थायि-नामविरुद्धव्यभिचारिभिः स्थायिनोऽविरुद्धत्वात् तेषामङ्गत्वात्—प्रधान-विरुद्धस्य धाङ्गत्वायोगात्, आनन्तर्यविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणाऽपास्तं भवति तथा च मालतीमाधवे शृङ्गारानन्तरं वीमत्सोपनिन्दन्धेऽपि न किञ्चिद्वैरस्यम् तदेवमेव स्थिते विरुद्धरसैकावलम्बनत्वमेव विरोधे हेतुः,

रोधो न चैवमस्ति, न च मिश्रितानां परस्परं विरोधः सम्भवति विरोधे सति मिश्रणसंभवादित्यर्थः ।

यदि स्थायिनां भावानाम्—व्यभिचारिणां च परस्परं विरोध उच्यते तदा तयोरपि न तावत्सहानवस्थानलक्षणो विरोधः सम्भवतीत्युपपादयति—स्थायिनां चेति । रत्याद्युपरक्ते—रत्यादिभाविते । स्रस्सूत्रन्यायेन—यथैकस्मिन्नेव सूत्रे माला-सपत्न्यर्थं बहुविधानि पुष्पाणि निक्षिप्यन्ते तथैकस्मिन् चेतसि बहूनां भावानां सहस्थितिर्न विरुद्धेत्यर्थः । अनुकार्ये—ग्रीरामादौ । स्वचेतस्संभेदेन—स्वचित्तस्य तादात्म्यापत्त्या—उत्तेन तद्भावभायनेन । अत्र हेतुत्वमुपनिबन्धस्योक्तस्य विशेषम् । उपसंहरति—तस्मादिति ।

वाप्यबाधकभावलक्षणविरोधं निरावुक्ते—वाप्यबाधकभाव इति । स च वाप्यबाधकभावः स्थायिनामविरुद्धव्यभिचारिभिस्तु सह न सम्भवति—स्था-यिनोऽविरुद्धत्वात् तेषाम् तेषाम्—अविरुद्धव्यभिचारिणां स्थाय्यविरुद्धत्वादित्यर्थः । अविरुद्धत्वे “अङ्गत्वात्” इति हेतुः । अत्र “स च व्यभिचारिणां स्थायिनामविरुद्धव्यभिचारिभिः, स्थायिनोऽविरुद्धः” इत्येव पाठस्तत्त्वयुक्त एव । आनन्तर्यविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेण किं वा स्रस्सूत्रन्यायप्रकारेणापास्तं भवतीत्याह—आनन्तर्येति । तथा च—अनन्तर्येण विरोधाभावात् । उपसंहरति—तदेवमेवेति, एवमेव स्थिते नामोक्तसहानवस्थानादिलक्षणविरोधाभावे सिद्धे । विरुद्धरसैकावलम्बनत्वम्—विरुद्धयोः वीर्यादिमयानकादिरसयोरेकावलम्बनत्वम्—

सत्त्वऽविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी यथा—

“अण्णहुणाहुमहेल्लिअहुजुहुपरिमल्लसुसुअन्धु ।

सुहुकन्तह अगत्थणहअङ्ग ण फिट्ठइ गन्धु ॥”

इत्यत्र बीभत्सरसस्याङ्गभूतरसान्तरव्यवधानेन शृङ्गारसमावेशो न विरुद्धः । प्रकारान्तरेण वैकाश्रयविरोधः परिहर्तव्यः ।

ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषां विरुद्धानामविरुद्धानां च न्यग्भूतत्वेनोपादानं तत्र भवत्वङ्गत्वेनाऽविरोधः यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम् ? यथा—

“एकत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरत्तूरणिग्योसो ।

वेम्मेण रणरसेन अ भडस्स डोलाइअं हिअअम् ॥”

इत्यादौ रत्युत्साहयोः, यथा वा—

“मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यावमिदं वदन्तु ।

सेव्या नितम्बाः किमु भूभराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥”

इत्यादौ रतिशमयोः, यथा च—

“इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः

स चायं दुष्टात्मा त्वसुरपकृतं येन मम तत् ।

एकव्यक्त्याभितत्त्वमेव विरोधे हेतुः—वीरादेर्भयाद्यसंभवादित्यर्थः । स. = एकावलम्बनत्वेन विरुद्धोऽपि रसोऽविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो विरोधी न भवति—तयोर्द्वयोः परस्परं विरुद्धयो रमयोर्मध्येऽविरुद्धस्य रसान्तरस्य निवेष्टात्, एकावलम्बनत्वेन विरुद्धयो रसयोरानन्तर्येणैव विरोधभावादित्यर्थः । एतादृशाऽविरोधमुदाहरति—“अण्णहु” इति । प्रकारान्तरेण = अङ्गाङ्गीभाषकत्वनया वैकाश्रयविरोधः परिहर्तव्य इत्याह—प्रकारान्तरेणेति ।

शङ्कते—नन्विति । एकतात्पर्येण = एकस्य भावस्य रसस्य वा प्राधान्ये तात्पर्येण । न्यग्भूतत्वेन = अङ्गत्वेनेति यावत् । “कथम्” इत्यनन्तरम् ‘अविरोधः’ इति शेषः । विरुद्धानां समप्रधानत्वेऽपि विरोधाभावे जगति विरोधो दत्ताञ्जलिरेव स्यादिति तात्पर्यम् । समप्राधान्ये उदाहरणान्याह—यथेत्यादिना । “रत्युत्साहयोः” इत्यादेः “ममप्राधान्येनोपनिबन्धः” इत्यग्रिमवाक्येनान्वयः ।

१ नितान्तापुष्टत्वादस्य श्लोकस्य व्याख्या न लिख्यते ।

२ “एकतो रोदिति प्रियान्वयतः समरतुल्यनिर्घोषः ।

प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोषापितं हृदयम् ॥” इति च्छाया ।

इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोधदहनः

कृतो वेपथ्यायं कथमिदमिति भ्राम्यति मत्तः ॥”

इत्यादौ तु रतिक्रोधयोः,

“अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसरा, स्त्रीद्विस्तरत्तोत्पल-

व्यकोत्तंसभृतं पिनद्विशिरसा द्रुण्डरीकलज ।

एताः शोणितपद्मकुङ्कुमजुपः संभूय कान्तैः पिब-

न्त्यस्थितेहसुरा कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः ॥”

इत्यादावेकाश्रयत्वेन रतिजुगुप्सयोः,

“एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितं चन्द्रद्वितीयं पुनः

पार्वत्या वदनाभ्युजस्तनतटे मृङ्गारभारालसम् ।

अन्यदूरविकृष्टचापमदनत्रोधानलोदीपितं

प्रभोर्भिन्नगंसं समाभिसमये नेत्रत्रयं पातु व ॥”

इत्यादौ शमरतिक्रोधानाम्,

“एकेनाक्ष्या प्रविततरुया धीक्षते व्योमसस्यं

भानोर्ध्वं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम् ।

अहोदे दयितविरहाद्राङ्गिनी चकवाकी

द्वौ संकीर्णौ रचयति रसौ नर्वकीव प्रगल्भा ॥”

इत्यादौ च रतिशोकक्रोधानां समप्राधान्येनोपनिबन्धस्तदर्थं न विरोधः ? ।

अत्रोच्यते—अत्राप्येक एव स्थायी तथा हि—“एकतो रुजह पित्रा”
इत्यादौ स्थायिभूतोत्साहन्यभिचारिलक्षणावितर्कभावहेतुसंदेहवारणतया
करुणसङ्ग्रामतूर्ययोरुपादानं वीरमेव पुण्यातीति भट्टस्येत्यनेन पदेन प्रति-

एकाश्रयत्वेनेति—पूर्वत्र रत्युत्साहादीनामालम्बनमेदोऽस्ति “अन्त्रैः कल्पि-
तमङ्गलप्रतिसरा ” इत्यत्र ॥ रतिजुगुप्सयोरालम्बनं पिशाचाङ्गनेवेत्येकालम्बनत्वम्,
तत्र रतिसमवायं पिशाचव्यवहौ जुगुप्सासमवायश्च भोतरीत्यन्वदेव ।

उत्तरमाह—अत्रोच्यते इत्यादिना । अत्र=उत्तोदाहरणेषु स्थायित्वमेव स्यैव
भावस्थास्ति न त्वनेकस्य येन समप्राधान्येन विरोधः स्यादित्यर्थः । विरोधाभाव
मुपपादयति—तथा होत्यादिना । स्थायीति—स्थायिभूतो य उत्साहो ध्वमिच-
रिलक्षणश्च यो वितर्कभावस्तस्य हेतुभूतो यः सदेहस्तत्वारणतयेत्यन्वयः, अत्र

पादितम् । न च द्वयोः समप्रधानयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावरहित-
योरैकवाक्यभावो युज्यते, किं चोपक्रान्ते सङ्ग्रामे सुभटानां कार्यान्तर-
करणेन प्रस्तुतसङ्ग्रामौदार्यान्त्येन महदनौचित्यम् । अतो भर्तुः सङ्ग्रामैकर-
सिकतया शौर्यमेव प्रकाशयन् प्रियतमाकरुणो वीरमेव पुष्पाति ।

एवम् “मात्सर्यम्” इत्यादावपि चिरप्रवृत्तरतिवासनाया हेयतयो-
पादानाच्छमैकपरत्वम् “आर्याः समर्यादम्” इत्यनेन प्रकाशितम् ।

एवम् “इयं सा लोलाक्षी” इत्यादावपि रावणस्य प्रतिपक्षनायकतया
निशाचरत्वेन मायाप्रधानतया च रौद्रव्यभिचारिविपादविभाववितर्क-
हेतुतया रतिक्रोधयोरुपादानं रौद्रपरमेव, “अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः”
इत्यादौ हास्यरसैकपरत्वमेव, “एकं ध्याननिमीलनात्” इत्यादौ शंभो-
र्भावान्तरैरनाक्षिप्ततया शमस्यस्यापि योग्यन्तरशमादौलशून्यप्रतिपादनेन
शमैकपरतैव “समाधिसमये” इत्यनेन स्पृष्टीकृता । “एकेनाक्ष्णा”
इत्यादौ तु समस्तमपि धाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषयमिति ॥ कचिदने-
कतात्पर्यम् ।

यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया
धार्थद्वयपरत्वेत्यऽशेषः यथा—

वरुणसंप्रामनूर्ययोरुपादानेन दोलायितपदव्यङ्ग्यसदेहो जायते इति वरुणसं-
ग्रामनूर्ययोरुपादानमुक्तसदेहस्य कारणम्, सदेहे सत्येव वितर्को जायते इति
सदेहो वितर्ककारणम्, स्पष्टमन्यत् । एकरुवाक्यभावः=एकवाक्यता=अङ्गा-
ङ्गीभाष इति यावत् । प्रियतमावरुणः=प्रियासमवेतः वरुणः । वरुणपदं च
वरुणविप्रलम्भपरम् । भटस्य चित्तं दोलायितं न तु भटेन संप्रामगमनं प्रि-
याप्रीत्या प्रत्याख्यातमितिरीत्या प्रियतमावरुणः शौर्यं प्रकाशयति तेन च वीर-
रत्नं पुष्पातीतिभावः ।

रीद्रेति—रौद्रस्य व्यभिचारी विषादस्तस्य विभावः=आलम्बनविभावः मीता
तद्विषयकः कथं पदव्यङ्ग्यो यो वितर्कस्तदेतत्तया—यतो रतिक्रोधयोरुभयोः
परस्परविरुद्धयोः सत्त्वादेव किं कर्तव्यमिति वितर्को जायते, रावणस्य रौद्रप्र-
धानत्वेनात्र रौद्रत्वेन पुष्टि—रतेर्न्यभूतत्वादिति भावः । अनेकतात्पर्यम्=अने-
केषु तात्पर्यम्, येन विरोधः स्यादिति शेषः ।

अर्थद्वयेति—श्लेषपदे एकस्मिन् पक्षे एकरूपैव भाषस्य रमस्य वा प्राधान्यं
भवत्यन्यस्मिन् पक्षे धाररस्येति न तथापि विरोधमभवः—अनेकप्राधान्या-
भावादित्यर्थः । रात्रन्वयति—श्लेषपदे प्रतीयमानार्थयोर्यशोभयोः प्रमाणानादि-

“श्लाघ्याशेषतनुं मुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-

त्रैलोक्या चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।

विभ्राणां मुखमिन्दुसुन्दररुचं चन्द्रात्मचन्द्रुर्धत्

स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी बोऽवतान् ॥”

इत्यादौ । तदेवमुक्तप्रकारेण गत्याधुपनिबन्धे सर्वत्राविरोधः । यथा वा-
श्रूयमाणरत्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथापि दर्शयिष्यामः ।

ते च—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः ।

शममपि केचित्माहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥ ३५ ॥

इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः, तत्र केचिदाहुः—
नास्त्येव शान्तो रसः—तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनालक्षणाकर-
णान् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति—अनादिकालप्रवाहायातरा-
गद्वेपयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात् । अन्ये तु वीरवीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति ।

भावो भवति तत्रोपमानपक्षस्याङ्गत्वेनोपमेयपक्षस्य प्राधान्येऽपि वाक्यार्थभेदस्तु
भवत्येवेत्येकस्मिन् वाक्यार्थे एकस्यैव प्राधान्यं प्राप्तम्, यत्र तूपमानोपमेयादि-
भावो न भवति किं तु स्वातन्त्र्येणैव वाक्यार्थयोर्भावि भवति तत्र तु किञ्च-
वाक्यस्य स्वातन्त्र्येणैव=अङ्गाङ्गिभावराहित्येनैवार्थद्वयपरत्वम् (बोधकत्वम्)
भवतीति प्रतिवाक्यार्थमेकस्यैव प्राधान्येनाङ्गैकप्राधान्याभावात् विरोधसंभा-
वनेति भावः ।

यथा वेति—रत्यादीनां व्यक्तानामेव भावत्वं भवति न तु शक्त्युपस्थि-
तानामिति रत्यादिपदसत्त्वे रत्यादिपदेन शक्त्युपस्थितानां रत्यादीनां भावत्वा-
सम्भवात् कथं प्राधान्यं स्यादित्याशङ्कायाभाह—श्रूयमाणेति, तादृशस्थले रत्या-
देर्भावत्वासम्भवेऽपि तात्पर्यं ॥ तत्रैव=शक्त्युपस्थितरत्यादिष्वेव भवतीत्यर्थः ।
किं वा “अश्रूयमाण” इति पदच्छेदः, यत्र काव्यवाक्ये रत्यादिपदं न भवति
तत्रापि रत्यादिष्वेव तात्पर्यं भवति—विभावादिभी रत्यादीनां तत्राद्योपे भवतीति
सिद्धान्तादित्यर्थः ।

ते=स्थायिभावाः । एतस्य=शमस्य ।

“नास्त्येव शान्तो रसः” इत्यस्य सामान्यतः शान्ताऽत्यन्ताभावे न तात्पर्यं
किं तु नाट्ये शान्तस्याऽभाव इत्येव । वीरेति—संसारस्य कामक्रोधादिदोषाणां
वा विजेयत्वे शान्तरसस्य वीरेऽन्तर्भावः, मलिनत्वेन हेयत्वपक्षे च बीभत्सेऽन्त-

एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति । यथा तथास्तु । सर्वथा नाटकादावभिन-
यात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते—तस्य समस्तव्यापारप्रवि-
लयरूपस्याभिनयायोगात् ।

यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलय-
वत्यनुरागेणाऽऽप्रबन्धप्रवृत्तेम विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या विरुद्धम्—न ह्ये-
कानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागाऽपरागानुपलब्धौ, अतो दयावीरो-
त्साहस्यैव तत्र स्थायित्वं तत्रैव शृङ्गारस्याङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च
फलत्वेनाविरोधात् । ईप्सितमेव च सर्वत्र कर्तव्यमिति परोपकारप्रवृत्तस्य
विजिगीषोर्नान्तरीयकत्वेन फलं संपद्यत इत्यावेदितमेव प्राक् । अतोऽप्या-
वेव स्थायिनः ।

ननु च

रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।

निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेष्वपि रसाः ॥ '

इत्यादिना रसान्तराणामन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता
इत्यवधारणानुपपत्तिः ।

भावं इति भावः । शमम्=शान्तस्थापिनम् । “ यथा तथास्तु ” इत्यत्र ' उक्त-
विहृता मतम्, 'न तत्रास्माकमभिनिवेशः' इति शेषः । स्वाभिप्रायमाह—सर्वथेति ।
तत्त्व=वामस्य । अभिनयायोगात्=अभिनयात्मनःनाट्येन संबन्धासंभवादिति ।
' अभिनयाऽयोग्यत्वात् ' इति तु पाठो युक्तः स्यात् ।

यत्त्विति, यदि नागानन्दे जीमूतयाह्नः शमप्रधानः स्यात्तदा तस्य मलयव-
त्यमनुरागो विद्याधरचक्रवर्तित्वस्वीकारश्च न स्यादित्यर्थः । नहीति—एको
योऽनुकार्यलक्षणविभावः=चेतनस्तदालम्बनौ=तदाभयौ विषयस्यानुरागापरागौ
न कचिदप्युपलब्धौ—एकत्र विषयस्यानुरागो वा वैराग्य वा संभवति न तु द्वय-
मपि परस्परं विरोधात् । अपराग=वैराग्यम् । तत्र=नागानन्दादौ । तत्रैव=दया-
वीरोत्साहे एव । नान्तरीयकत्वेन=तेन सहाभस्यभावित्वेन । प्राक्=द्वितीयप्रका-
शारम्भे धीरोदात्तलक्षणव्याख्यायाम् ।

शङ्कने=नत्विति । एतेराम्=निर्वेदादीनाम् । मधुरादीनाम्=शृङ्गारादीनाम् ।
एत=रमनकर्मत्वम् । अवधारणानुपपत्तिः=“ अष्टात्रैव स्थायिनः ” इति नि-
यमानुपपत्तिः ।

अत्रोच्यते—

निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।

वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥ ३६ ॥

(अताद्रूप्यात्=) विरुद्धाविरुद्धाऽविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावाद-
स्थायित्वम् अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं
नीयमाना वैरस्यमावहन्ति । न च निष्फलावसानत्वमेतेषामस्थायित्वनि-
बन्धनम्—हासार्दीनामवस्थायित्वप्रसङ्गात् पारम्पर्येण ॥ निर्वेदादीनाम-
पि फलवत्त्वात्, अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न भवति किं तु
विरुद्धैरविरुद्धैर्भावैरतिरस्कृतत्वम् । न च तन्निर्वेदादीनामिति न ते स्था-
यिनः, ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यते अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामऽरसता ।

कः पुनरेतेषां काव्येनापि संबन्धः ? न तावद्वाच्यवाचकभावः स्वशब्दै-
रनावेदितत्वात् नहि शृङ्गारादिसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादि-
शब्दा वा श्रूयन्ते येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात्, यत्रापि च श्रू-
यन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण ।

उत्तरमाह—अत्रोच्यते इत्यादिना । अताद्रूप्यात्=विरुद्धाविरुद्धाभ्यां भावा-
भ्यामविच्छेद्यत्वपरित्यागः । अत एव=स्वाद्यत्वाभावादेव । ते=निर्वेदादयः
मध्यनिक्षिप्तैश्चिन्तादित्यव्यभिचारिभिः शृङ्गारादिभ्योऽन्तरिताः=अपरहिता अपि
(किमुतानन्तरिताः) परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति तेषामपुष्टानामेव कदा-
चित्प्राप्तानां चमत्कारित्वादित्यर्थः । निष्फलावसानत्वम्=अवसाने निष्फलत्वम् ।
एतेषाम्=निर्वेदादीनाम्, अस्थायित्वनिबन्धनम्=अस्थायित्वकारणम् । रसत्वम्=
रसत्वात्प्रत्याप्राप्तिः । अत इति=स्थायिनामेव रसत्वं न भवति नाऽरसादिना निर्वे-
दादीनामित्यर्थः ।

भावादीनां केन प्रकारेण बोधो भवतीत्यभिप्रायेणामुच्यते—क इत्यादिना ।
एतेषाम्=भावादीनाम् । निर्वेदादेरस्थायित्वप्रकरणं समाप्तम् ।

याच्येति—भावादीनां वाच्यत्वं काव्यस्य (काव्यषट्परत्वादिगण्यस्य) वाच-
कत्वम् । अनावेदितत्वादिति—रत्यादीनां रत्यादिषुः प्रतिपादने रसदोषस्योच-
त्वादित्यर्थः । अभिधेयत्वम्=वाच्यत्वम् “ शृङ्गारादिसेषु ” इति काव्ययित्ते-
षाम् । तेषाम्=रत्यादीनाम् । तत्परिपोषस्त्वित्यादिपरिपोषस्य । यत्रादीनि=य-
त्रापि काव्येषु श्रूयन्ते रत्यादिशब्दा इत्यर्थः । विभावादिद्वारकम्=विभावादि-
संयोगेन ।

नापि लक्ष्यलक्षकभावः—तन् सामान्याभिधायिनस्तु लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात् । नापि लक्षितलक्षणाया तद्व्यतिपत्तिः यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तत्र हि स्वार्थे स्रोतोऽलक्षणे घोषस्यावस्थानासंभवात्स्वार्थे स्वरलङ्घतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थाविनाभूतत्वोपलक्षितं तदमुपलक्षयति । अत्र तु नायकादिशब्दाः स्वार्थेऽस्वरलङ्घतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः ? । को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुज्यते ? । अत्र एव 'सिंहो माणयकः' इत्यादिवन् गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः ।

यदि धान्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात्तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत् । न च काल्पनिकत्वम्—अविगानेन सर्वसद्वयानां रसास्वादेऽद्भूतेः । अतः केचिदभिधालक्षणागौणी-

लक्ष्यलक्षकभाव निराचष्टे—नापीति तत्सामान्याभिधायिनः पदस्य=रसभावादिपदस्य, सामान्यवाचकपदस्य विशेषधर्मावच्छिद्ये लक्षणास्वीकाराद् रसादिशब्दानां गङ्गारादौ विशेषे लक्षणा सम्भवतीति लक्षकस्येत्युक्तम् । नापीति—तद्व्यतिपत्तिः रसादिप्रतीतिः । तत्र 'गङ्गाया घोषः' इत्यत्र । स्वार्थे=प्रगाहे स्वरलङ्घति=बाधितप्रवृत्तिः (प्रवाहबोधनाऽसमर्थ) गङ्गाशब्दः स्वार्थस्याविनाभूतत्वेन (व्याप्यत्वेन) उपलक्षितं तदमुपलक्षयति । अत्र=काले । अस्तत्त्वद्वय=नबाधितप्रवृत्तयः । कथमिवेति—स्वार्थबोधनासमवेत्यर्थान्तरबोधनमापत्तिरिति न तु स्वार्थबोधनसमवेपीत्यर्थः । इत्यादिशब्दानां लाक्षणिकत्वेन प्रयोगापत्तिरपि नास्तीत्याह—को वेति, मुख्ये=मुख्ये प्रयोगे, सति=सम्भवति, उपचरितम्=लाक्षणिकपदम् । अत एव=निमित्तं विना लाक्षणिकपदप्रयोगस्याऽसंभवादेव, गुणवृत्त्या=सादृश्यप्रयुक्तगौणीलक्षणाया, नेय प्रतीतिः=न रसादिप्रतीतिः सम्भवति । 'सिंहो माणयकः' इत्यत्र ॥ कौर्यादिबोधनं प्रयोजनमस्तीति तदर्थं कौर्यादिविशिष्टे लाक्षणिक सिंहपदं प्रयुज्यते, नैव इत्यादिपदप्रयोगपक्षे सम्भवतीत्यर्थः । इदमत्र चिन्त्यम्—'गङ्गायां घोषः' इति न लक्षितलक्षणाया उदाहरणम्—लक्षणाद्वयस्थले तत्संभवाद् यथा द्विरेफपदे, तत्र रेफद्वये शक्तिः भ्रमरपदे लक्षणा तदनन्तरं भ्रमरपदार्थे लक्षितलक्षणेति । किं वा यथा द्विरेफपदं भ्रमरपदं बोधयित्वा भृङ्गबोधयति तथान्न गङ्गापदं प्रवाहं बोधयित्वा तीरं बोधयतीत्येतावन्मात्रसादृश्येन लक्षितलक्षणात्वमुपपादनीयम् ।

काल्पनिकत्वमिति—यदि रसादीनां काल्पनिकत्वं स्यात्तदा तत्कल्पकमानस्यैवाऽऽस्वादः स्यात् अविगानेन=ऐक्यमत्वेन सर्वेषां रसास्वादो न स्याद् न चैवमस्तीति

भ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्द-
व्यापारं रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति ।

तथा हि विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना
कथमिव वाच्या स्यात् यथा कुमारसंभवे—

“ विवृण्वती शैलमुतापि भावमद्वैः स्फुरद्भालरुदम्बकल्पैः ।

साचीकृता चारतरेण तस्यौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥ ”

इत्यादावनुरागजन्यावस्थाविशेषानुभाववाटिरिजालक्षणाविभावोपरर्णनादे-
वाऽऽशाब्दापि शृङ्गारप्रतीतिरुदेति, रसान्तरेष्वप्ययमेव न्यायः, न केवलं
रसेष्वेव यावद्वस्तुमात्रेऽपि यथा—

“ भ्रमं धम्मिज वीसद्वो सो मुण्हो अज्ज मारिओ तेण ।

गोलोणइक्कच्छुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥ ”

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरशाब्दापि व्यञ्जकशक्तिमूलैव, तयालङ्कारेष्वपि—

“ लाघप्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्

स्मेरेऽधुना तव मुखे सरलायताक्षि ।

क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये

मुख्यकमेव जलराशिरयं पयोधिः ”

इत्यादिषु ‘ चन्द्रतुल्यं तन्वीवदनारविन्दम् ’ इत्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्ति-
व्यञ्जकत्वनिबन्धनीतिः । न चासावर्थापत्तिजन्या—अनुपपद्यमानार्था-
न फाल्गुनिकत्वमित्यर्थः, अनेन रसादीनाममत्वं परिहृतम् । व्यञ्जनायादिमतेन
समापत्ते—अत इत्यादिना ।

व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं प्रतिपादयति—तथा इत्यादिना । अत्रपरि-
शेषलक्षणानुभाषयती या गिरिजा तलक्षणे य आलम्बनविभारमनुरूपानाम्,
अशाब्दापि शृङ्गारादिशब्दप्रयोगाभावेऽपीत्यर्थः । नेति—न केवलं रसादिविपरि-
प्रतीतिर्व्यञ्जनाध्यासरेण भवति किं तु सति संभवे वस्तुमात्रपरिपत्तिं प्रतिपत्तिर्व्य-
ञ्जनाध्यासरेण संभवतीत्यर्थः । उक्तमुदाहरति—अमेति । निरोधप्रतिपत्तिः—आदाय-
गुणोऽसौ मा भवेति प्रतिपत्तिः, निरोधः काव्यप्रकाशादौ द्रष्टव्यः । अलङ्कारेषु—अल-
ङ्कारपरिपत्तिं प्रतिपत्तिर्व्यञ्जनस्य आपत्ते इत्युदाहरति—नारत्नेति ।

व्यञ्जकत्वनिबन्धनी—व्यञ्जनमूलम् । अनुपपद्यमानेति—अनुपपद्यमानत्वार्थः-

१ “ भ्रमं धम्मिज किम्पः न थाप मारिस्सनेन ।

नेदादीयदीक्कच्छुडङ्गवासिणा दरिअसीहेन ” इति पृष्ठा ८८.

पेशाभावात् । नापि वाक्यार्थत्वं व्यङ्ग्यस्य—तृतीयकक्षाविषयत्वात् ।
तथा हि—‘भ्रम धार्मिक’ इत्यादौ पदार्थविषयाभिधायकप्रथमकक्षानि-
न्तक्रियाकारकसंसर्गात्मकविधिविषयवाक्यार्थकक्षान्तिवान्ततृतीयकक्षा-
न्तो निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जकदाकृत्यर्थाः स्फुटमेवावभा-
सते अतो नासौ वाक्यार्थः ।

ननु च तृतीयकक्षाविषयत्वमभ्युपगम्यमाणपदार्थतात्पर्येषु ‘विषं भुङ्क्ष्व’
इत्यादिवाक्येषु निषेधार्थविषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थस्य । न चात्र
व्यञ्जकत्ववादिनापि वाक्यार्थत्वं नेष्यते ? तात्पर्यादन्यत्माद्भुतेः । तत्र-
स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्षाभावात् सैव निषेध-

स्यानाऽपेक्षाभावात् (प्रतीत्यभावात्) इत्यन्यथ, कस्य चिदर्थस्यानुपपन्नमानस्ये
ह्यर्थापत्तिः प्रसरति—यथा भोजनं विना पीनस्यस्यानुपपत्त्या दिवा भोजनस्य च
प्रतिषेधाद् रात्रिभोजनमर्थापत्त्या ‘पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्षेः’ इत्यत्र न
स्प्यते, न चैव रसादिकं विना कस्य चिदनुपपन्नमानत्वमस्ति येनार्थापत्त्या
रसादिप्रतीतिः स्यादित्यर्थः । वाक्यार्थत्वमित्यत्र रसादीनामिति शेषः, प्रथमकक्षा-
यां पदार्थापस्थितिर्द्वितीयकक्षायाम् पदार्थसंसर्गात्मकवाक्यार्थस्य प्रतीतिस्तृतीयक-
क्षायाम् व्यङ्ग्यप्रतीतिर्वायते तत्र व्यङ्ग्यार्थस्य द्वितीयकक्षाविषयत्वाभावात् वा
क्यार्थत्वमित्यर्थः । व्यङ्ग्यस्य तृतीयकक्षाविषयत्वमुपपादयति—तथा हीति ।
पदार्थविषयाऽभिधाय्यापारलक्षणा प्रथमकक्षा । द्वितीयकक्षाभूता वा वाक्या-
र्थकक्षा तदतिश्रान्ता वा तृतीयकक्षा तादृशतृतीयकक्षान्त—तादृशतृतीयकक्षा-
विषयः तृतीयकक्षानिषिद्ध इति मान्यम् । असौ—व्यङ्ग्यः । स्पष्टमन्यत् ।

शङ्कते—नम्यति । “वाक्यार्थस्य” इत्यत्र “वाक्यार्थः” इतिपाठस्तत्र
युक्त एव । अभ्युपगमेषु निषेधादिपदार्थेषु तात्पर्यं येषां तेषु “विषं भुङ्क्ष्व”
इत्यादिवाक्येष्वित्यन्यथ । अत्र—“विषं भुङ्क्ष्व” इत्यादौ व्यञ्जकत्ववादिनापि
निषेधस्य वाक्यार्थत्वं नेष्यते इति न किं त्विष्यते एवेत्यर्थः, अत्र हेतुमाह—ता-
त्पर्यादिति, तात्पर्यस्य ध्वनित्वम्—व्यङ्ग्यत्वं नास्ति (न स्वीकृतम्) अत्र च
निषेधे एव तात्पर्यमिति निषेधो वाक्यार्थ एव न व्यङ्ग्य इत्यर्थः । व्यङ्ग्यस्य
तृतीयकक्षाविषयत्ववादी समाधत्ते—तन्नेति, “विषं भुङ्क्ष्व” इत्यत्र स्वार्थस्य=
विषमक्षणस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य—अविश्रान्तत्वेन तृतीयकक्षाभावात्—तृ-
तीयकक्षायाम् एव अभावात् द्वितीयकक्षायाम् वाक्यार्थस्य विश्रान्तो सत्या तृतीया
कक्षा भवति ‘विषं भुङ्क्ष्व’ इत्यत्र च द्वितीयकक्षायाम् वाक्यार्थस्याविश्रान्त-

कक्षा—तत्र द्वितीयकक्षाविधौ क्रियाकारकसंसर्गानुपपत्तेः प्रकरणात्पि-
तरि वक्तुरि पुत्रस्य विपभक्षणनियोगाभावात् ।

रसवद्वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्षायां रसानवगमात्
तदुक्तम्—

“ अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम् ।

वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परतास्य सा ॥

यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावदागतम् ।

तत्परसर्पति तत्र स्यात्सर्वत्र ध्वनिना स्थितिः ॥ ”

इत्येवं सर्वत्र रसानां व्यङ्ग्यत्वमेव । वस्त्वलङ्कारयोस्तु कचिद्वाच्यत्वं
कचिद्व्यङ्ग्यत्वं तत्रापि यत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन प्रतिप्रत्तिस्तत्रैव ध्वनिः
अन्यत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं, तदुक्तम्—

“ यत्रार्थः शब्दो वा यमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यङ्गः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

त्वेन तृतीयकक्षैव नास्ति यद्विषयत्व निषेधस्य स्यात्, सैव=वाक्यार्थाभवीभूता
द्वितीयकक्षैव निषेधकक्षास्ति—द्वितीयकक्षायामेव निषेधः=अनुग्रहभोजननिषेधः
प्रतीयते एवेति न स निषेधस्तृतीयकक्षामपेक्षते इत्यर्थः । उक्ते हेतुमाह—तत्रेति,
तत्र=‘ विप भुङ्क्ष्व ’ इत्यत्र द्वितीयकक्षाविधौ=द्वितीयकक्षाया क्रियाकारकसं-
सर्गस्य विपकर्मकभक्षणरूपवाक्यार्थस्योपपत्तिरेव नास्ति यत एतद् वाक्यं पित्रा
पुत्रं प्रत्युक्तमिति प्रकरणाज्ज्ञातं न च पित्रः पुत्रं प्रति विपभक्षणादेशः उपपद्यते
इति व्याक्यार्थानुपपत्त्या द्वितीयकक्षा अनुग्रहभोजननिषेधमेव स्वविषयीकरोतीति
द्वितीयकक्षायामेव तादृशनिषेधस्य प्रतीयमानत्वात् तृतीयकक्षाविरतत्वमस्तीति
व्यङ्ग्यत्वस्यैव तृतीयकक्षाविरतस्य भवतीत्यर्थः ।

रसमदिति—विभावादिविरण्यवाक्यार्थबोधलक्षणा या द्वितीयकक्षा तस्यां
रसानवगमाद् रसादेव्यङ्ग्यत्वमित्यर्थः । अप्रतिष्ठमिति—इदं वाक्यं स्वार्थेऽप्रति-
ष्ठम्=अविभ्रान्तम्=अनुपपन्नं सद् यत्र यत्परताम्=तादृशार्थपरतामवगाहते त-
त्रास्य=वाक्यस्य सैव तत्परता=तादृशार्थपरता न्याय्या तदास्य तादृशार्थरमेव
भवतीत्यर्थः । यत्रेति—यत्र तु तदाक्यं स्वार्थे विभ्रान्तम्=प्रतिष्ठां प्राप्ते सद्भवे प्रस-
र्यति=किं चिद्वोधयितुं प्रवर्तते तत्र सर्वत्र ध्वनिर्भवति तदाक्यम्, विभ्रान्तस्या-
र्थपेक्षया बोधान्तरस्य व्यङ्ग्यत्वादित्यर्थः । उपसंहृति—इत्येवमिति । अन्यत्र=
व्यङ्ग्यस्याऽप्रधानत्वे । यत्रार्थ इति—“ उपसर्जनीकृतस्वार्थो ” इति शब्दार्थयो-
र्विशेषणम्, शब्दार्थो स्वयमप्रधानीभूतौ यत्र कंचिदर्धं व्यङ्ग्यः=व्यङ्ग्यनाश्वयारेण

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यमङ्गं तु रसादयः ।

काव्ये तस्मिन्मलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ ”

यथा—“ उपोदरागेण ” इत्यादि । तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्या-
ऽविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम्, अविवक्षितवाच्योऽप्यत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थो-
ऽर्थान्तरसंश्रुतवाच्यश्चेति द्विधा । विवक्षितवाच्यश्च असंलक्ष्यक्रमः क्रम-
शोत्यश्चेति द्विविधः, तत्र रसादीनामसंलक्ष्यक्रमध्वनित्वं प्राधान्येन प्र-
तिपत्तौ सत्याम्, अङ्गत्वेन प्रतीतौ रसबलङ्कार इति ।

अत्रोच्यते—

वाच्या मकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया ।

वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायीभावस्तथेतरेः ॥ ३७ ॥

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणान्येषु ‘ गामभ्याज ’ इत्यादिषु अश्रू-
यमाणान्येषु च—‘ हारं हारम् ’ इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात्पक-
रणादिवशाद्बुद्धिसंनिवेशिनी नित्यैव कारकोपचिता वाक्यार्थस्तथा काव्ये-
ष्वपि कचिन् स्वशब्दोपादानात् “ प्रीत्यै नवोढा प्रिया ” इत्येवमादौ
कचिच्च प्रकरणादिवशाभिर्यथाभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्भाव-
कचैतत्ति विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचा-
प्रतिपादयतस्तत्र तत्काव्य ध्वनिरित्युच्यते इत्यर्थः, उच्यते च—“ इदमुत्तममतिश-
यिनि ” इत्यादि । प्रधाने इति—अन्यत्र—ध्वनेरन्यत्र यत्र वाक्यार्थमेव प्रधानं
भवति रसादिकं चाऽप्रधानं भवति तस्मिन् काव्ये रसबलङ्कारो भवतीत्य-
न्वयः, तत्र रसादीनामलङ्कारत्वेन गुणीभूतं व्यङ्ग्यं भवतीत्यर्थः । रसबलङ्कार-
रसुदाहरति—उपोदरेति—

■ उपोदरागेण विलोलसारकं तथा गृहीतं शशिना निगममुत्तमम् ।

यथा समस्तं तिमिराशुक्लं तथा पुरोपि रागाद्वलितं न लुप्तम् ॥ इति ।

अत्र समासोक्तिपरिणुक्तवाक्यार्थस्यैव चमत्कारित्वेन प्राधान्याद् रसस्य चाङ्ग-
त्वाद्रसबलङ्कारः । क्रमशोत्य—संलक्ष्यक्रमः । तत्रेति—रसादीनां प्राधान्यप्रतीतौ
सत्यागमसंलक्ष्यक्रमध्वनिर्न काव्यस्येत्यन्वयः । रसादीनामङ्गत्वेन प्रतीतौ सत्या
रसबलङ्कारः । एते च ध्वनिमेदाः काव्यप्रकाशादौ द्रष्टव्याः ॥ ३६ ॥

स्वमतेन समाधत्ते—वाच्येति । स्वशब्दोपादानात्—क्रियावाचनशब्दोपादा-
नात् । बुद्धिसंनिवेशिनी—बुद्धिस्था । स्वशब्दोपादानात्—विभावादिबोधकरत्यादि-
प्रियादिशब्दोपादानात् । नियतेति—नियतं यदङ्गमिहितं विभावादि तदविनाभावात् ।

रिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया ' परं प्रौढिभानीयमानो
रत्यादिर्वाक्यार्थः ।

न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्—कार्यपर्यवसायित्वा-
त्तात्पर्यशक्तेः, तथा हि—पौरुषेयमपौरुष्यं वाक्यं सर्वं कार्यपरम्—अत-
त्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यबन्, काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरे-
काभ्यां निरतिशयसुरास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्ति-
विषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते,
तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभाषादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अगो
वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽहृष्यमाणा वस्तुत्वार्यपेक्षिताऽवा-
न्तरविभाषादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायिताभानीयते, तत्र विभाषादयः
पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः । तदेतत्काव्यवाक्यं यदीयं

संस्कारपरम्परया=पूर्वपूर्वप्रतीतिविभाषादिभिस्तत्पदैः संस्कारैः । प्रौढिम्=पुष्टिम् ।

ननु रत्यादिपदप्रयोगाभावे पदेनानुपस्थितत्वेनाऽपदार्थव्यावृत्त्यादेः वाक्य-
र्थत्वं कथं स्यादित्याहुः—न चेति । परिहारमाह—कार्येति, तात्पर्यं हि प्रयु-
क्तिनिवृत्त्यन्तरलक्षणवत्परं भवति, तात्पर्यार्थश्च वाक्यार्थ एवेति रत्यादेस्तात्पर्य-
वियत्येन व्याख्यायन्त्वं सिद्धमित्यर्थः । स्थाभिप्रायमुपपादयति—तथा हीन्या-
दिना । अतपरत्वे=वार्थपरत्वाभावे उन्मत्तादिवाक्यरदानुपादेयत्वं स्यादित्यर्थः ।
काव्यशब्दानामिति—काव्यशब्दानां यौ प्रवृत्तिविषयो प्रतिपाद्यप्रतिपादकौ=स्थायि-
विभाषादौ तयोरित्यन्वयः, काव्ये स्थायी वा रसो वा प्रतिपाद्यो विभाषादिश्च तदु-
प्रतिपादकः । स्वानन्दोद्भूतेः कार्यत्वेन तात्पर्यविराग्यं तेन च वाक्यार्थं च
प्राप्तम्, स्वानन्दोद्भूतिरेव च रस इति सिद्धं रसस्य वाक्यार्थत्वम् । तदुद्भूतिनि-
मित्तत्वम्=स्वानन्दोद्भूतिनिमित्तत्वम् विभाषादिमंसृष्टस्य=विभाषादिमनुपस्थ-
स्थायिन एव उक्तं च 'विभावानुभावव्यभिचारिभोगाद्रसनिर्गमः' इति । आ-
इति—यतः स्वानन्दोद्भूतेः (रसस्य) तात्पर्यविराग्यं प्राप्तमतो वाक्यव्यभि-
धानशक्तिः=प्रतिपादनशक्तिस्तेन तेन=तत्रत्येन रसेनाऽऽहृष्यमाणा=स्वानुप-
लब्धा तत्तत्कार्यं=तत्तद्रसस्यदोषितविभाषादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायिताम्
(तत्तद्रसार्थमाप्तिताम्) आनीयते=आनीते, काव्यरचयितां तत्तद्रसदिप्रतिपादने
तात्पर्यं मयर्वति वाक्यम् । पदार्थगतकार्यवर्गे=विभागमाह—तत्रेति । काव्यरचना
सौष्टिकवाक्यरूपेण महत्त्वमाह—तदेतदिति । "यदीयम्" इत्यत्र 'यतः' इत्यर्थः ।

ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ ।

न चैवं सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगः विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वानन्दोद्भूतेः, तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः । ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिरूपिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगतेः शस्त्यन्तरपरिकल्पनं प्रयासः यथावोचाम काव्यनिर्णये—

‘ तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः ।

किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥ १ ॥

ताविमौ=भावादिरसौ ।

ननु यथा गीतादेः सुखादिना स्वजन्येन वाच्यवाचकभावो नास्ति तथा काव्यवाक्यजन्यरसादिना वाच्यवाचकभावो नास्ति इत्याशङ्क्याह—न चेति । परिहारमाह—विशिष्टेति, विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषाम्=अलौकिकविभावादिलक्षणज्ञानवतामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव च स्वानन्दोद्भूतिममवादित्यन्यथ, विभावादिसामग्रीज्ञानं च वाच्यवाचकभावज्ञानाधीनमिति वाच्यवाचकभावोपयोगः समर्थितः । तदनेनेति—तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वानन्दोद्भूतिर्जायते इति नियमेन अतिप्रसङ्गः=अरसिकानां रसात्यादोऽपि निरस्तो वेदितव्य इत्यर्थः । ईदृशि=एवमेव वाक्यार्थनिरूपणे (निर्णये) जाते नाम तात्पर्यार्थस्य वाक्यार्थत्वेन रसस्य वाच्यवाक्यार्थत्वे प्राप्ते परिरूपिता=सकलप्रसिद्धा याऽभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तस्य=सर्वविधस्य वाक्यार्थस्य रसादेरप्यवगतिः संभवतीति वाच्यवाक्यानां शक्त्यन्तरपरिकल्पनम्=व्यञ्जनाव्यापारकल्पनं व्यञ्जनाव्यादिनां प्रयास एवेत्यर्थः । उक्तेः स्वनिर्मितकाव्यनिर्णयस्य वाक्यानि निर्दिशति—तात्पर्यानतिरेकादिनि ।

तात्पर्येति=व्यञ्जनीयस्य=व्यङ्ग्यस्य तात्पर्यानतिरेकाद् ध्वनिः=ध्वनिनामर व्यञ्जनाव्यापारवत् वाच्यं नास्तीत्यन्यथः । व्यङ्ग्यस्य तात्पर्येऽन्तर्भावात् तत्प्रतीत्यर्थं व्यञ्जनाव्याऽभावात् व्यञ्जनाव्यापारवत्त्वेनाभिमितं ध्वनित्वं वाच्यस्य न संभवतीत्यर्थः । “ व्यञ्जनीयस्य ” इत्यत्र “ व्यञ्जकत्वस्य ” इति पाठस्तु चिन्त्यः । ध्वनिरादी स्वमतेनोक्तमाह—किमुक्तमिति, “ मां मिद्विशाम्गोटकम् ” इत्याद्यन्योक्तिरूपिणि अधुनाप्यतात्पर्ये=अज्ञाततात्पर्याधीने वाक्ये किमुक्तं स्यात्=अत्रेदं तात्पर्यमिति कथं धर्तुं शक्येन ? न शक्येन इत्यर्थः—यन्तात्पर्यं हि यन्तुरिच्छावागोदकस्य चेच्छा न समवति जेत्यादिनि प्रतीयमानस्य निर्देहस्य कथं तात्पर्य-

विप्र मक्षय पूर्वो यश्चैव परमुत्तादिषु ।
 प्रसज्यते प्रधानत्वाद्भुनित्व केन वार्यते ॥ २ ॥
 ध्वनिश्चेत्स्वार्थविभ्रान्त वास्वमर्थान्तराश्रयम् ।
 तत्परस्य त्वविभ्रान्तौ, तन्न-विभ्रान्त्यसम्भवात् ॥ ३ ॥
 एतावत्येव विभ्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किञ्चित् ।
 शाब्दत्वार्यप्रसारित्वाच्चात्पर्यं न सुलभ्यतम् ॥ ४ ॥
 भ्रम धार्मिक विभ्रान्तमिति भ्रमिकृतास्पदम् ।
 निर्यामृति कथं वाक्य निषेधमुपसर्पति ॥ ५ ॥

र्थार्थत्वं स्यात् ? तथा च तात्पर्यार्थादितिरेव एव व्यङ्ग्यार्थ इति तद्वोधनाथं
 व्यङ्ग्यनाम्यापारस्यापेक्षा प्राप्तेति मिद्धो ध्वनिरिति भार ॥ १ ॥

किं च ' विप्र मक्षय मा चारय एवे भुङ्क्ता, इत्यादौ प्रतीयमानस्य प्राप्ता
 न्याद् यद् ध्वनिर्ध्व प्रसज्यते प्राप्नोति तत् केन वार्यितुं शक्यते ? न केनापीत्यर्थं
 विप्रमक्षणादपि शत्रुपक्षभोजने निवृत्त्यमिति प्रतीयमानस्य तात्पर्यशक्त्या प्राप्ती
 तेरसंभवाद् व्यङ्ग्यनाम्यापार स्वीकर्तव्य इति भावः । वादभाकरप्रत्यये दुष्टव्य ।
 ' य पूर्व ' इति परमुदिष्योक्तम् ' विप्र मक्षय ' इति मुक्तमुदिष्योक्तमित्युक्तम्
 ' परमुत्तादिषु ॥ इति ॥ २ ॥

ध्वनिवादी व्यङ्ग्यतात्पर्यबोधेन प्रदर्शयति ध्वनिरिति-स्वार्थे विभ्रान्त ॥
 द्वास्म्यं चेदर्थान्तराश्रयम्-अर्थान्तरबोधकं भवति तदा तद्वाक्यं ध्वनिरित्युच्यते ।
 स्वार्थेऽपिभ्रान्तौ-अविभ्रान्तमेव यद्यर्थान्तरबोधकं भवति तदा तादृशार्थान्तरं
 तात्पर्यमित्युच्यते । व्यङ्ग्यमिति व्यङ्ग्यतात्पर्यस्य परस्पर भेद इत्यर्थः । ध्वनि
 निरासपादौ प्रादाचटे-तथेति, तात्पर्यार्थबोधनं विना वाक्यस्य विभ्रान्तेरसंभवात्
 तथा च यदुक्तं प्रतिपाद्यते तन्मर्थं तात्पर्यार्थमेव भवतीति तद्विमलव्यङ्ग्यत्वादि
 तात्पर्यार्थत्वस्याप्यध्वनिर्नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि ।

वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्तिर्न चा कथम् ॥ ६ ॥

पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।

वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥ ७ ॥ इति ।

अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः । किं तर्हि ? भा-
व्यभावकसंबन्धः, काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः, ते हि स्वतो
भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते ।

भोतुश्च विश्रब्धभ्रमणलक्षणशक्त्यार्येणाप्याकाङ्क्षानिवृत्त्या तदतिरिक्तार्थविषय-
कनिहासाया अनुत्थानात्, मम मते नु शक्यार्यमात्रबोधनेन वाक्यस्य वि-
श्रान्तौ जादाया घटीविषयककुलद्रव्यज्ञानेन तदभिप्रायनिहासाया जाताया
वाक्य व्यञ्जनया भ्रमणनिषेधपर भवतीति सिद्ध व्यङ्ग्यमित्यर्थः ॥ ५ ॥

ध्वनिनिरासयादी प्रत्युत्तरमाह—प्रतिपाद्यस्येति, अपेक्षापूरणात्=भोतुराका-
ङ्क्षानिवृत्त्या यद्युक्तवाक्ये प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरुच्यते तथा ॥ विश्रान्त्या
भ्रमणनिषेधस्य व्यङ्ग्यत्वमुच्यते तदा वक्तुर्विवक्षितस्याऽप्राप्ते=अत्रमात्र=
अबोधनात् प्रतिपाद्यस्याऽविश्रान्तिरेव किं न स्याद् विनिगमनाविरहात् तथा
न प्रतिपाद्यस्याविश्रान्तौ सत्या तदतिरिक्तमुष्पमानार्थस्य तात्पर्यार्थत्वमेव
भवतीति त्वयापि स्वीकृतत्वादुक्तस्थले भ्रमणनिषेधस्य तात्पर्यशक्त्यैव लामसं-
भवाद् व्यञ्जनाव्यापारो व्यङ्ग्यं च न स्वीकार्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

यौवदेयस्येति—यौवदेयस्य काव्यादिवाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता=यिविहाधी
नत्वाद् वक्त्रभिप्रेततात्पर्यम्=वक्त्रभिप्रेततात्पर्यपरत्वमेव युक्तमिति त्वदभिमतव्य-
ङ्ग्यार्थस्य तात्पर्यार्थत्वप्राप्या व्यङ्ग्यव्यञ्जनाव्यापारो न स्वीकार्यमित्यर्थः । न
न नाम्नि विषाद इतियाच्यम्, तात्पर्यार्थस्य सखलमस्ततात्पर्यसाक्ष्येयावबोधात्,
व्यङ्ग्यप्रतीत्यर्थं च व्यञ्जनाव्यापारस्वीकारात् । तथा च रसादयो भाव्याः काव्यं
च भाव्यमिति तयोर्भाव्यभावकभाव एव संबन्धो न नु व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव
इत्यर्थः ॥ ७ ॥

उपसंहरति—अत इति । रसादीनां काव्येन सह कस्तर्हि संबन्ध इति निहा-
सते—किं तर्हि । उत्तरमाह—भावेति । ते रसादयः । भावकेषु=भाव्यकृदये
स्वतो भवन्त=स्वयं सन्त एव विशिष्टविभावादिमता=अनैकविभावादिप्रति-
पादकेन वाक्येन भाव्यन्ते=उद्भाष्यन्ते इति ।

॥ चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसन्धाभावात् काव्यशब्दे-
 प्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम्—भावनान्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात् ।
 किं च सा चान्यत्र तथास्तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथागमात्
 तदुक्तम्—

“ भावाभिनयसन्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।

यस्मात्तस्मादर्मा भावा विज्ञेया नाग्ययोक्तृभिः ॥ ” इति ।

कथं पुनरगृहीतसद्वन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् ?
 लोके तथाविवचेष्टायुक्तर्त्वापुसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथो-
 पनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दभ्रवणादभिधेया-
 ऽविनाभावेन छाक्षणिक्की रत्यादिप्रतीतिः । यथा च काव्यार्थस्य रसभान-
 कत्वं तथापि वक्ष्याम ।

शङ्कते—न चेति । तथा=भाव्यभावकसंबन्धाभावेन भाव्यम्=भक्षितव्यमि-
 त्यर्थः । परिहारमाह—भावेनेति भावनेन क्रियेति यादिभिर्मामांसकैर्भाव्यभावरसं-
 बन्धस्य स्वीकृतत्वात्, तत्र स्वर्गादीनां भाव्यत्वं यागादिन्रियायाश्च भावकत्वमिति
 प्रतिपादितत्वादित्यर्थः, तथा च काव्यपक्षेऽपि भाव्यभावकसंबन्धस्य नानुपपत्ति-
 रिति भावः । उत्तमभ्युपगम्याह—न चेति, अन्यत्र=लोके, तथा=भाव्यभाव-
 कसंबन्धः । ॥३॥ काव्ये त्वऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तथागमात्=भाव्यभावकसंबन्धो-
 ऽसंगम्यते एवेत्यर्थः । रसादिशेषकपदानुपादानस्थले प्रवृत्तान्तरेण रसादिप्रतीति-
 रसंभवात् किं वा भावकचेतसि वर्तमानरत्यादिना काव्यस्य संबन्धान्तरासंभवा-
 दिति भावः । भावेति—भावेनाऽभिनयेन च किं वा भावस्याभिनयेन संबन्धो-
 देयां तादृशान् रसान् भवयन्तीति भाषा । नाग्ययोक्तृभिः=नाग्यप्रयोक्तृभिः ।
 प्रमाणमिदं न प्रत्यर्थसमवायि प्रतिभाति किं वा भावकत्वेन काव्यस्यापि भा-
 वपदवाच्यत्वं मन्ताव्यमिति ।

शङ्कते—कथमिति, अगृहीतसंबन्धेभ्यः=रत्यादावऽगृहीतगतिरेभ्यः पदेभ्यः
 कथं रत्यादिप्रतीतिः स्यात् ? तत्र अगृहीतगतिश्चादेव पदान् तत्प्रतीतिर्भावक-
 गतिप्रसङ्गस्य कारणत्वादित्यर्थः । उत्तरमाह—लोके इति, तथाविधचेष्टा=तथादि-
 प्रयुक्तानुभावः । रसापि=काव्येऽपि । अभिधेयविनाभावे=तदसंगचेष्टा (भ्रु-
 मावा) दृष्टानिभावेन रत्यादिना रसा तादृशेण देरसंभवादिति भावः । रसा-
 निक्कीति—भूयमाणतादृशचेष्टादिप्रतिपादकशब्दानां इव सन्तापेतादयः सभान-
 रत्यादी लक्षणाः । रसमन्त्रः ॥ ३७ ॥

रसः ॥ एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात् ।

नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ॥ ३८ ॥

द्रष्टुः प्रतीतिर्ब्रह्मैवारागद्वेपप्रसङ्गतः ।

लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥ ३९ ॥

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायीभावः स इति प्रतिनि-
र्दिश्यते, स च स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसि-
कवर्तीति वर्तमानत्वात्, नानुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात्तस्य ।

अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमिष्यत
एव, तथापि सदवभासस्यास्मदादिभिरननुभूयमानत्वादसत्समत्वैवाऽऽस्वादं
प्रति, विभावत्वेन ॥ रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव । किं च न
काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते अपि तु सहृदया-
नानन्दयितुम् । स च समस्तभावकस्यसंबन्ध एव ।

यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौ-
किके इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानवमिति
प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः, सत्पुरुषाणां च रुज्जा, इतरेषां
त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन् । एवं च सति रसादीनां व्यङ्ग्य-

रसिरस्यैवेति-रसिरस्यैव सामाजिकस्य रसास्वादो भवतीत्यर्थः । काव्यार्थो-
पप्लावितः=काव्यार्थेनोपप्लावितः । स इतिपदेनोक्तमूल्यत्वे स्थायी प्रतिनिर्दिश्यते
इत्यर्थः । सत्य=अनुकार्यस्य भीरामादेः ।

अथेति-यद्यपीत्यर्थः । शब्दोपहितरूपत्वेन=शब्दोपहितरूपत्वेनेति-
भावः । तथा च “नानुकार्यस्य” इत्यादिप्रथमुक्तमिति भावः । उत्तरमाह-तथापीति ।
सदवभासस्य=अनुकार्यभीरामदिप्रतीतेरस्मदादिभिरननुभूयमानत्वादाऽऽस्वादं प्र-
त्यनुकार्यरसात्सत्त्वमेवेत्यर्थः । “अनुभूयमानत्वात्” इतिपाठस्तत्प्रयुक्त एव ।
सः=रसः ॥ ३८ ॥

द्रष्टुरित्यादिपदं व्याचष्टे-यदि चेन्मादिना, “न रसास्वादः” इत्यन्तेन “प्रती-
तिः” इति पदं व्याख्यातम्, अपूपेति-‘अनेनेषं सुन्दरी कथमुपलब्धा’ इत्यमुया ।
उत्तरानाविनायां रागः=अनुरागश्चापि प्रसज्येत, उत्तरानाविनाया अपहारेच्छादि
त्यादिति नानुकार्यस्य रसः किं तु सामाजिकस्यैवेत्यर्थः । उपसंहारि-एव चेति ।

त्वमपास्तम् । अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्तुन्येनापि व्यज्यते प्रदीपेनेन घटादि न तु तदानीमेवाभिव्यञ्ज्यत्वाभिमतैरापाद्यस्वभावम् । भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव ।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः कथं च सीतादीना देवोना विभावत्वेनाऽविरोधः ? उच्यते—

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः ।

विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥ ४० ॥

नहि क्वचो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासमुपनिब्रूयन्ति, किं तर्हि ? सर्वलोकसाधारणा स्योत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः कचिदाश्रयमात्रदायिनीः (वि)द्वधति ।

ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः ।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवानिष्टं कुर्युः । किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेत् ? उच्यते—

रसादीनां ध्वङ्गत्वेऽनुपगन्निष्ठाह—अन्यत इति, अभिव्यञ्जनात्पूर्वमेव लब्धसत्ताकं वस्तुऽन्येनाभिव्यज्यते यथा प्रदीपेन घटः, रसश्च न पृथं लब्धमपाद्य इति कथमभिव्यञ्ज्यत्वेनाभिमतैरभिव्यज्येतेत्यर्थः । आपाद्यस्वभावरूपम्=लब्धमपाद्यम् । भाव्यन्ते-उद्भाष्यन्ते इत्यनेन विभागादिभ्यः पूर्वमप्यत्र रसस्य प्रत्याख्याता-विभावादिसंयोगेनैव स्थायिन रसत्वापगमिस्वीकारादिति नाभिव्यङ्ग्यस्य संभवतीत्यर्थः ।

शङ्कने-नन्विति । अविरोध इति-साधारणीकृतानामेव विभावरत्नं भवति श्रीसीतादीनां च जगज्जननीनां इयं सत्त्वसत्त्वसाधारण्येन शृङ्गाराद्यालम्बनत्वं स्यादिति भावः । उत्तरमाह—धीरोदात्तेति धीरोदात्ताद्यवस्थानां प्रतिपादकं अभिभावकं भीरुमादी रत्यादीन् विभावयति ते=रत्यादयो रसिकस्य स्वदन्ते=आस्वादगोचरा भवन्तीत्यर्थः । प्रातिस्विकीम्=भीरुमादिमात्रमवद्वाम् । स्योत्प्रेक्षाकृतसंनिधी = स्योत्प्रेक्षाकृत संनिधिस्थितिर्वासां ता स्योत्प्रेक्षाकृतसंनिधी स्वसंभावित्वा इति भावः । कचिदाश्रयमात्रदायिनी = कचिद् दृश्यमनोभ्रमद्वारा दाहुरलक्ष्यः । विद्वधति=उपनिब्रूयन्ति कथं ॥ ४० ॥

ता=सीताद्याः । परित्यक्तविशेषा=साधारणीकृताः समान्यतो नन्दिनादि रूपेण परिचिताः ।

क्रीडतां मृण्मयैर्द्वद्दालानां द्विरदादिभिः ॥ ४१ ॥

स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ।

एतदुक्तं भवति—नात्र लौकिकरसद्वारादिवत्ख्यादिविभावादीनामुप-
योगः, किं तर्हि ? प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्वं नाट्य-
रसानाम् । यदाह—“अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः” इति ।

काव्यार्थभावनस्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥ ४२ ॥

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति तदानीं भोग्यत्वेन स्वनहि-
लोदेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न
वार्यते ।

कथं च काव्यात्स्वानन्दोद्भूतिः किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः ।

विकासविस्तरशोभविशेषैः स चतुर्विधः ॥ ४३ ॥

शृङ्गारवीरवीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।

हास्याद्भुतभयोरकर्षकत्वनानां स एव हि ॥ ४४ ॥

अतस्तज्ज्ञान्यता तेषामत एवावधारणम् ।

काव्यार्थेन—विभावादिसंस्तृप्तमध्यात्मकेन भावकचेतसः संभेदे—अ-

वलुतल्लु मध्ये स्मृतिव्यापारोऽपि स्वीकार्यस्तथा च काव्यं भ्रुत्वा नाट्यं च
! दृष्ट्वा तदातुङ्गत्वेन स्वनीयप्रियतमादिकं स्मृत्वा रसास्वादोऽनुभूयते इति
स्वीकार्यं न केयं व्रीडादेरापत्तिः—प्रियतमादेर्बाह्योपस्थितेरभावादिति मे रोचते
इत्यलमत्र स्वमतसंस्थापनप्रयासेन ।

श्रोतृणामर्जुनादिभिः सह स्वोत्साहः स्वदते यत इति हेतोरर्जुनादय उपादी-
यन्ते इत्येव श्रुतेरान्वयः । लौकिकरसवैलक्षण्यादेव नायिकादीनां स्वीयत्वेनो-
पस्थितेरेषा न भवति काव्ये इत्यर्थः ।

यदि नर्तनस्यापि काव्यार्थभावनया—काव्यार्थैकतानतया (रसिकत्वे सतीति-
यापत्) रसास्वादः संभवति (न तु रसिकत्वामावेऽपि) तदा तु सामाजिकानुरज-
नमेव फलम् ॥ ४२ ॥

स्वाद इति—काव्यार्थसंभेदाद् य आत्मानन्दसमुद्भवः स स्वादपदार्थः, स
॥ स्वादः शृङ्गारवीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमाद् मनसो विकासविस्तरशोभविशेषैः
चतुर्विधो विशेय इत्यन्वयः । काव्यार्थसंभेदमाह—काव्यार्थेनेति, विभावादिसं-
स्तृप्तेन—विभावादिसमुत्तेन । संभेदपदार्थमाह—संभेद इति, अन्योन्यसंबलनं हि

न्योन्यसवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रथमतरस्यानन्दोद्भूति
स्याद, तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्येन
सम्भेदेन चतुर्था चित्तभूमयो भवन्ति तद्यथा—शृङ्गारे विकास, वीरे
विस्तर, बीमत्से क्षोभः, रौद्रे विश्लेष इति । तदन्येषां चतुर्णां हास्या-
श्रुतभयानककरुणानां स्वसामग्रालम्बपरिपोषाणां त एव चत्वारो विका-
साद्याश्चेतसः सम्भेदा अत एव—

“शृङ्गाराद्धि भवेद्भास्यो रौद्राच्च करुणो रस ।

वीराश्चैवाश्रुतोत्पत्तिर्बीमत्साच्च भयानक ॥”

इति हेतुहेतुमद्भावे एव सम्भेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावाभिप्रा-
येण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात् ।

“शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तित ।”

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणान्, अवधारणमप्यत
एव “अष्टौ” इति—सम्भेदान्तराणामभावात् ।

अनुकार्यचित्तावस्थासहसावस्थावयवम् । सवलनस्य सम्भेदस्य वा विशेषणमाह प्र-
त्यस्तमितेति । प्रत्यस्तमित—नष्ट स्वपरविभागो यत्रैवाहरो सति । तस्य—भास्वा-
दस्य सामान्यात्मकत्वेऽपि सकलरससाधारणत्वेऽपि, उक्तसम्भेदो हि तत्तद्रमसबन्धि-
त्वेन प्रतिनियतैरेव विभावादिभिर्जायते यथा शृङ्गारे चन्द्रचन्दनादिभिरिति प्रति-
नियतविभावादिकारणजन्यसम्भेदवशात् विकासादिलक्षणानुविधेया चित्तभूमय-
सम्भवन्तीत्यन्वयः । हास्येत्यादिमूलव्याचष्टे—तदन्येषामिति, सम्भेदा इति—उक्तस-
म्भेदेन चेतसो विकासादयो जायन्ते इति कार्यकारणयोरैक्योपचारादत्र विकासादे-
सम्भेदत्वमुक्तं किंवा ‘सम्भेदा’ इत्यत्र ‘भेदा’ इत्येव पाठः । अत एव चित्तभू-
मीनां विकासादिलक्षणचानुविधेयादेव । चेतसो विकासाद्यवस्थानां शृङ्गाराद्यवच्छे-
त्वाद् अवस्थान्तराणां चानुपलम्भात् शृङ्गारादिभ्य एव हास्यादीनाह—शृङ्गारा-
द्वीति । लोकेऽपि शृङ्गारेण हास्य, रौद्रेण करुण—रौद्रस्य करुणपर्यवसायित्वात्,
वीरस्य चाश्रुतभयानकसायित्वात्, बीमत्सस्य च भयपर्यवसायित्वात् शृङ्गाराद्वीत्युक्तं
वेदितव्यम् । इति हेतुहेतुमद्भावे इति—‘शृङ्गाराद्धि भवेद्भास्यः’ ‘अतस्तत्रजन्यता
तेषाम्’ इत्येव प्रदर्शितो हेतुहेतुमद्भावः सम्भेदापेक्षयैव दर्शितो न तु कार्यका-
रणभावापेक्षया तेषां हास्यादीनां स्वकीयविभावादिलक्षणकारणान्तरजन्यत्वात्
शृङ्गाराद्यजन्यत्वाच्चेत्यन्वयः । परानुकरणेन हास्य जायते इत्युक्तम्—“शृङ्गारा-
नुकृतिः” इति । स्फुटीकरणादिति—शृङ्गारे यदि चित्तवृत्तेर्विकासो भवति तदा

ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसंभेदा-
दानन्दोद्भव इति, करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्रादुष्यात् ?
तथाहि—तत्र करुणात्मनः काव्यध्वन्यादु साविर्भावोऽभ्युपातादयश्च रसि-
कानामपि प्रादुर्भवन्ति न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते । सत्यमेतत्,
किं तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सभोगा-
वस्थायां कुटुम्बे स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात्करुणात्काव्यकरुण, तथा-
ह्यनोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः । यदि च लौकिककरुणानुदुःखात्मक-
रसभेदः स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तते तत्र करुणैकरसानां रामायणा-
दिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत् । अश्रुपातादयश्चेति युक्तवर्णनाऽऽकर्ण-
नेन विनिपातितेषु लौकिकगैरुज्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न
विरुद्धन्ते तस्मान्न सान्तरस्य रसस्य व्यापनन्दप्रवृत्तभेदः ।

शान्तरसस्य चाऽनभिनेयत्वाद् यद्यपि नान्येऽनुप्रवेशी नास्ति तथापि
सूक्ष्मातीतान्विस्तूना संशयामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्य-
विषयस्य न निवार्यते अतस्तदुच्यते—

शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदारमता ॥ ४५ ॥

शान्तो हि यदि तावन्—

शृङ्गारानुकरणेपि चित्तवृत्तेर्विकास एव प्राप्तः शृङ्गारानुकरणं च हास्य इति
हास्येऽपि चित्तवृत्तेर्विकास एव प्राप्त इत्यर्थः । किं वा विकाससाम्येनैव हास्यस्य
शृङ्गारानुवृत्तित्वमुक्तमित्यभिप्रायः । अष्टाविति—प्रत्येकस्य विरामादिसंभेदस्य
रसद्वयेन सवचादष्टौ रसाः—संभेदानां चतुस्सख्याकत्वादित्यर्थः ।

शङ्कते—नमिति । असौ—आनन्दः । प्रादुष्यात्—प्रादुर्भवेत् । पूर्वपक्षी स्या
भिप्रायमुपपादयति—तथा हाति । एतत्—अश्रुपातादि । उत्तरमाह मिद्वान्ती—स
त्यमित्यादिना । तथा हि—आनन्दात्मकत्वादेव । विनिपातितेषु—दुःखप्रसङ्गेषु ।
गैरुच्यं शोकावेगः, यथा लोके दुःखितदुःखानादश्रुपातादयो यजन्ति यथा
न लोकेऽपि दुःखितदर्शनार्थं प्रवृत्तिस्तथा करुणायाश्चेति विभाव्यम् ॥ ४४ ॥

“ शममपि वेचिन् प्रादुः ” इत्युक्तं सिद्धान्तलोकेनन्यायेन संप्रति परामृशति
शम इति, अनिर्वाच्यं यत्प्रसङ्गस्य शमप्रवर्णनं एव शान्तरसः, मुदितादिभ्यश्च

“न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।

रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥ ”

इत्येवंलक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादु-
र्भावात्, तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयतां श्रुतिरपि—“स एष नेति नेति”
इत्यन्यापोहरूपेणाह । न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः
सन्ति, अथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च
विकासविस्तारक्षोभविश्लेषरूपतैवेति तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः ।

इदानीं विभावादिविषयाशान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकः प्रकरणे-
नोपसंहारः प्रतिपाद्यते—

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाश्चादिस्वरूपकैः ।

काव्याद्विभावसंचार्यनुभावमख्यतां गतैः ॥ ४६ ॥

भावितः स्वदत्ते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्राद्यैरुदीपनविभावैः प्रम-
दाप्रमृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्न्यभिचारिभावै रोमाश्चाशुभू-
तदात्मता=तस्य शान्तरसस्यात्मलामो जायते इत्यर्थः । अपोह=अतद्व्यावृत्ति
स्तत्र तद्विषयमतद् व्यावृत्तिश्च भेदपदार्थ इति तद्भिन्नेभ्यो भिन्नत्वमपोहः, तद्-
भिन्नेभ्यो भिन्नं च तदेव भवति तथा चात्र शान्तातिरिक्तसकलरसेभ्यः शान्तस्य
विलक्षणत्वमुपपादितं भवतीत्यर्थः । किं वा अन्यापोहरूपेण=अन्यनिषेधरूपेणाहेत्य-
र्थः । सहृदयपदेन चात्र वैपयिङ्गः सहृदया ग्राह्याः । सन्ति=सम्भवन्ति । सौकिकरसा-
स्वादपरत्वादितिशेषः । शान्तरसास्वाद निरूपयति—अथापीति । यद्यप्यनिर्वचनी-
यस्य निरूपणं न संभवति तथापीत्यर्थः । तदुपायभूतः=शान्तोपायभूतः । मुदितेति
“मैत्रीरुणशामुदितोपेक्षाया सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चिन्मप्रमाद-
नम् ” इति योगसूत्रम् । तस्य=मुदितादेः । तदुक्त्यैव=उक्तविकासाद्युक्त्यैव । हेतु-
भूतमुदितादेश्चित्तविकासादिरूपत्वेन तत्समग्रशान्तस्यापि चित्तविकासादिरूपत्व
प्राप्तमित्यर्थः । मुदितादौ विनासादेर्यथासख्यमन्वयः, मैत्र्या विस्तार औदार्यमेव,
करुणायां क्षोभो दुःखिचम्, उपेक्षायामुपेक्षणीयविषयापेक्षया निश्चयश्चित्तस्य स्पष्ट
एवेत्यनुसंधेयम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ४५ ॥

इदानीमिति—विभावादिविषयो योऽवान्तरः काव्यव्यापारी विभावाद्विप्रति-
पादनं तत्प्रदर्शनपूर्वक इत्यर्थः । इन्द्रादयो विभावा निर्वेदादयो व्यभिचारिणो
रोमाश्चादयश्चानुभावा एते वाक्यार्थाभूतस्य रसस्य पदार्थस्थानीया रसस्यैतन्म-

गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिष्ठोऽपि संपादिता-

स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविवयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥”

कालविभावो यथा कुमारसंभवे—

“असूत सद्यः कुसुमान्यग्रोकः स्कन्धात्प्रमृत्येव सपद्मानि ।

पादेन चापैक्षत मुन्दरीणां संपर्कमाशिक्षितनूपुरेण ॥”

इत्युपक्रमे—

“मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे ययौ प्रिया स्वामनुवर्तमानः ।

शृङ्गेण संस्पर्शनिमीलिताक्षी मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥”

वेपविभावो यथा सत्रैव—

“अशोकनिर्भर्त्तिसतपद्मरागमाकृष्टहेमगुतिरुणिकारम् ।

मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ति ॥”

उपभोगविभावो यथा—

“चक्षुर्लम्पमपीवर्णं फनलितस्ताम्बूलरागोऽधरे

विश्रान्ता कवरी अपोलफलके लुप्रेव गात्रगुतिः ।

जाने संप्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमै-

र्भमो मानमहातरस्तमणि ते चेतःस्थलीवार्धित ॥”

“व्यञ्जनधातोः पुष्प कल-तल-निर्गोदितमथोद्घुष्टम् ।

रेकाऽनुकम्पसङ्गोऽनुस्वनित विन्दुरवमूहम् ॥

इतिदशविधः प्रयोज्यो वीणायां व्यञ्जको धातुः ।

इत्येते धातव प्रोक्ताभत्वारो लक्षणाश्रिताः ॥” इति ।

रूपं पूर्वं व्याख्यातः । द्रुतमध्यविलम्बितैः परिच्छिन्न इत्यर्थः । यत्तव इति-उक्तं च संगीतरत्नाकरप्रथमे—

“लघुप्रवृत्तिनिवमो यतिरित्यभिधीयते ।

समा शोभोगता चान्या गोपुच्छा त्रिविधेति सा ॥” इति ।

याराविधय-यादन्प्रकारास्त्रयस्तदुक्तं संगीतरत्नाकरस्ये—

“तस्यैव भवेदनुगन्तमोषधेति निम्निगम्

स्मिन्नातुर्ग विप्रवारं यानं तद्वदम् कल्पते ॥” इति ।

स्तदमन्यत् ॥ ४८ ॥

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे—

“जगति जयितस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः

प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।

मम तु यदियं याता छेके क्लिबनचन्द्रिका

नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥”

सुव्रतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे—

“दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति कदनं याहू नतावंसयोः

संक्षिप्तं निमिडोन्नतस्तनुरुर, पार्श्वे प्रमृष्टे ॥४॥

मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावज्जालाङ्गुली

छन्दो जतयितुर्यथैव भक्तसः स्पष्टं तथास्या वपुः ॥”

यूनोर्दिभावो यथा मालतीमाधवे—

“भूयो भूय, सविनगराग्न्या पर्वदन्तं

दृष्ट्वा दृष्ट्वा ममनसलभोतुङ्गवातायनस्था ।

साक्षरनामं नवमिव रतिमालती माधव यद्

गालोत्काम्य लुलितललितैरङ्गकैस्तान्यतीति ॥”

अन्योन्यानुरागो यथा तत्रैव—

“यान्त्या मुहूर्त्तलिनकन्धरमाननं त-

वाटुत्तवृन्तजतपत्रनिभं यद्वन्त्या ।

दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या

गाढं निग्राव इव मे हृदये पट्यासुः ॥”

मधुराङ्गविषेष्टि यथा तत्रैव—

“रतिमितरिरसितानामुष्टसद्भूलताना

मसृणमुल्लिताना शान्तविस्ताभाजाम् ॥

प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चिताना

विविग्महसभूवं पात्रमालोक्तितानाम् ॥

यूनोर्दिभाव इति अन्ये विदुषापुराणाय, मुरागविभाव इत्यर्थे “भूयो भूय ॥ इत्यनोमयारेण मालतीमाधवशोरनिबन्धदिति ।

अन्योन्यानुराग इति—“यान्त्या” इत्यत्र माधवेन स्वममवेगानुरागसु मुग्धेनैरोत, “ललितकन्धरमानम्” इत्यनेनोत्तरिर्दृष्टिरीक्षणेन मालतीत-

मयेनोप्यनुराग उपनिबद्ध इत्यन्येन्यनुरागः ।

क्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्नाम्यार्थः स्यायी-
भावो विभारितः=भावरूपतामानर्गतः स्वदत्ते च रस इति प्राक्प्रकरणे
तात्पर्यम् ।

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते, तत्राचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गारा-
दीनां च पृथग्लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि, अत्र तु—

लक्षणैस्सं विभावैक्यादभेदाद्रसभावयोः ॥ ४७ ॥

क्रियत इति वान्यशेषः ।

तत्र तावच्छृङ्गारः—

रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ।

प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।

प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ४८ ॥

इत्यमुपनिन्द्यमानं काव्यं शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति कव्युपदेश-
परमेतत् ।

द्विरुपत्वादित्यन्वयः । काव्ये च तेषां चन्द्रादीनां यथासंख्यं विभावादिसंज्ञा
भवतीत्याह—काव्यादिति । भाषितः=पुष्टि प्रापितः । सः=स एव रस इत्युच्यते ।
आहितविशेषैः=प्राप्तविशेषैः चमत्कारिता प्राप्तेरिति यावत् । अवान्तरव्यापारतया=
अवान्तरव्यापारविषयतया, अवान्तरशब्दव्यापारविषयस्य पदार्थत्वस्वीकारात् प्रधान-
शब्दव्यापारविषयस्य च वाक्यार्थत्वस्वीकारादिति भावः । भावरूपताम्=विपुला-
स्यादयोग्यताम् । स रसः=स एव रस इत्युच्यते प्राक्प्रकरणे=उत्तररसप्रकरणे-
नान्वय इत्यर्थः । कटाक्षलक्षणं चोक्तं संगीतरत्नाकरसप्तमे—

“यद्गतागतविश्रान्तिवैचित्र्येण विवर्तनम् ।

तारकायाः कलाभिज्ञास्तं कटाक्षं प्रचक्षते” इति ।

लक्षणैक्यमिति—रसतत्त्वायिनोः समानमेव लक्षणं ज्ञेयम्—विभावैक्येनाऽभे-
दादित्यर्थः अत्र विभावादीनामेव भेदकत्वात्, विभावादिपरिपुष्टा रतिरेव
शृङ्गार इत्युच्यते एवं सर्वत्र ॥ ४७ ॥

रम्येति—यूनोरन्योन्यरक्तयोः प्रमोदात्मा या रतिः सैव मधुराङ्गविचेष्टितैः
प्रहृष्यमाणा=पुष्टा सती शृङ्गार इत्युच्यते इत्यन्वयः ॥

इत्यम्=एव प्रकारेण । तादृशः प्रफारश्च गुणैरेवावगन्तव्य इत्यर्थः ।

तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते—

“स्मरसि सुतनु तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्ययोस्तान्यहानि ।
स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेऽप्यवयोर्वर्तनानि ॥”

कलाविभावो यथा—

“हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शारदायोनिर्भूदुरभिनयः पद्मिकल्पोऽनुवृत्तै-
र्भावे भावे नुदति विषयान् रागस्थः स एव ॥”

यथा च—

“व्यतिर्यञ्जनवातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधा र्य लयः ।

हस्तैरिति—अन्तर्निहितवचनैः—आकारविशेषविशिष्टत्वेनार्थविशेषवद्भेदः । पा-
दन्यासैः—तुल्यान्तर्गतपादविन्यासैर्लयमुपगतः—प्राप्तः, रसेषु तन्मयत्वम्—रसम-
यत्वं व्योपगतः । लय इति—उक्तं च संगीतरत्नाकरपद्यमे—

“नियानन्तरिभ्रान्तिर्लयः स त्रिविधो मतः ।
द्रुतो मध्यो पिच्छश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः ।
द्विगुणद्विगुणौ शेषौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ ॥” इति ।

शालेति—उक्तं च संगीतरत्नाकरसप्तमाहमे—

“विहाय श्रीनभिनयानाऽऽद्विक्वोत्राभिधीयते ।
तस्य शालाङ्मुखो नृप प्रधानं धित्वे मतम् ।
तत्र शालेति पिख्याता विचित्रा करचर्चना ॥” इति ।

शाला योनिः—उत्पत्तिस्थानं यत्वं स शालायोनिर्भिनयः । पद्मिष्ठम्—
पद्मिष्ठ इति, उक्तं ॥ भरतेन—

“आद्विको व्याचिच्छेद्य शारदार्थः सत्त्विकस्वभावा ।
शेषान्वभिनयो पियाध्वनुर्या परिकल्पितः ।
विषयस्त्वाद्विको शेषः शरीरो मुखतन्त्रया ।
तया चेष्टाङ्गवक्ष्येव गान्धर्वोरागसंयुतः ॥” इति

अनुवृत्तेरिति—इत्यादिव्यामयेऽपिनेत्यां संभवति । रसमन्यम् ॥ १ ॥

इतिरिति—इति—अद्वयम् । अज्ञानपद्मनेति—उक्तं च भरतेनेत्ये-
तिग्राह्यम्—

ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ
त्रिंशत्रयो ये व्यभिचारिणश्च ।

एकोनपञ्चाशदमी हि भावा

युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति । (स्थायिनम्)

आलस्यमौघ्यं मरणं जुगुप्सा

तस्याश्रयाद्वैतविरुद्धमिष्टम् ॥ ४९ ॥

अथ त्रिंशद्व्यभिचारिणश्चाष्टौ स्थायिन अष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येतेन-
पञ्चाशत् । युक्त्या=अङ्गत्वेनोपनिर्गद्यमानाः शृङ्गारं संपादयन्ति ।
आलस्यौघ्यजुगुप्सामरणादीन्येकालम्बनविभागाश्रयत्वेन साक्षादङ्गत्वेन
चोपनिर्गद्यमानानि विरुध्यन्ते । प्रकारान्तरेण चाऽविरोधः प्राक्प्रति-
पादित एव ।

विभागस्तु (शृङ्गारस्य)—

अयोगो विप्रयोगश्च संभोगश्चेति स त्रिधा ।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद्भिप्रलम्भस्यैतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्र-
लम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूविति न प्रयुक्तः, तथा हि—दत्त्वा संके-
तमऽप्राप्तेऽव्यतिरिक्ते साध्येन नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य
मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात् ।

आलस्येति—यत्रालस्य तत्रौघ्यमयुक्तमित्यर्थः । एकालम्बनविभागाश्रयत्वेन=
एकव्यक्तिगतत्वेन । प्रकारान्तरेण=भावान्तरव्यवधानेनेति स्मर्तव्यम् ॥ ४९ ॥

ननु विप्रयोगविप्रलम्भपदयो पर्यायत्वाद् विप्रयोगपदस्याने विप्रलम्भ-
पद किं न प्रयुक्तमित्याशङ्क्याह—अयोगेति । अयोगविप्रयोगौ विप्रलम्भस्यै-
वाऽयान्तरविशेषाविति हेतो एतत्सामान्याभिधायित्वेन=अयोगविप्रयोगसामान्य-
वाचकत्वेन । विप्रयोगपदस्थले विप्रलम्भपदे प्रयुक्ते तद्विप्रलम्भपद विप्रयोगे
लक्षणिकमेव स्यात्—विप्रलम्भपदस्य सामान्यतोऽयोगविप्रयोगोभयपरत्वाद्
चाऽयोगस्य पृथगुक्तत्वात् सामान्यवाचकशब्दानां विशेषे लक्षणास्वीकारादित्य-
र्थः । साध्येन=नापकेन । दत्त्वा सकेतमप्राप्त्यादित्यले विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यतया
प्रयोगो भवति विप्रलम्भशब्दस्य वञ्चनार्थत्वादित्यर्थः ।

तत्राऽयोगोऽनुरागोऽपि नवयोरेकचित्तयोः ॥ ५० ॥

पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादिसंगमः ।

योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तदभावत्वोऽयोगः—पारतन्त्र्येण विप्रकर्षादैव-
पित्राद्यायत्तत्वात्सागरिकामाल्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव दैवाद्वौरीशिव-
योरिवाऽसमागमोऽयोगः ।

दशान्वयः स तत्रादावभिलाषोऽयं चिन्तनम् ॥ ५१ ॥

स्मृतिगुणकयोद्देशमलापोन्मादसंज्वराः ।

जडता मरणं(१०)चेति दुरवस्थं ययोत्तरम् ॥ ५२ ॥

अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गमुन्दरे ।

दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥ ५३ ॥

साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।

श्रुतिर्व्याजान्तस्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥ ५४ ॥

अभिलाषो यथा शाकुन्तले—

“असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्थमस्यामभिलाषि मे मनः ।

सनां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥”

विस्मयो यथा—

“स्तनावालोन्मय सन्वङ्गधाः क्षिरः कम्पयते युवा ।

तयोरन्तरनिर्ममां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥”

अन्योन्यस्वीकारः=परस्परसमागमः ॥ ५० ॥

स=अयोगः । तत्र=अयोगे ।

उक्तं च “दृष्टमनस्सङ्गसकल्पा जागरः वृशताऽरतिः ।

हीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥ ” इति ॥ ५२ ॥

अभिलाष इति—तत्र=उत्तेषु मध्ये, कान्ते सर्वाङ्गमुन्दरे दृष्टे वा श्रुते वा या

स्पृहा ॥ एवाभिलाषः, तत्र=अभिलाषे विस्मयादयो भवन्तीत्यन्वयः । उक्तं

च—“ दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ” इति । दर्शनमाप्तिप्रकार-

नाह—साक्षादिति । प्रतिकृति=चित्रपटः ।

श्रवणप्रकारानाह—श्रुतिरिति । व्याजान्=द्वारा ॥ ५४ ॥

आनन्दो यथा विद्वत्सालभजिकायाम्—

“सुधावद्व्यासैरुपवनचकोरैः कवलित्वा

किरञ्ज्योत्स्नामच्छां लवलपल्लपाकप्रणयिनीम् ।

उपप्राकारायं प्रहिणु नयने सर्वेय मना-

गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः क्षितकिरणः ॥”

साध्वसं यथा कुमारसंभवै—

“तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयाष्टे-

निक्षेपणाय पदमुद्धतमुद्धहन्ती ।

मार्गाचलत्र्यतिरुराडुलितेव सिन्धुः

शैलाभिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥”

यथा वा—

“व्याहृता प्रतिवधो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।

सेयते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥”

सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः ।

शुभकीर्तनं तु स्पष्टत्वाच्च व्याख्यातम् ।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रापोदृत्वा निदर्शितम् ॥ ५५ ॥

महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता ।

विष्णुमात्रं तु—

दृष्टे ध्रुतेऽभिलाषाञ्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥ ५६ ॥

अमाप्सौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात् ।

शेषं प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम् ।

अथ निप्रयोगः—

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्मययोर्द्विधा—॥ ५७ ॥

मानमवासमेदेन. मानोऽपि प्रणयेर्षयोः ।

पूर्वम्=अभिचारिप्रकरणे ।

न व्याख्यातम्=मूलकारेण न लिखितमित्यर्थः ।

प्रापोवृत्ता=प्रयोपादेन । तदनन्तता=शमारस्थानन्तता ॥ ५६ ॥

रूढविस्मययोः=रूढः=उद्यतो विस्मयः. प्रणयो ययोस्तयोर्नापि शान्तायकयोरे-

त्यर्थः “स्निग्धः प्रणयेऽपि न ” इत्यमरः ॥ ५७ ॥

प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोगस्तस्य द्वौ भेदौ—मानः प्रवासश्च, मानविप्र-
योगोऽपि द्विविधः—प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति ।

तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयोः ॥ ५८ ॥

प्रेमपूर्वको यदीकारः प्रणयः तद्गङ्गो मानः प्रणयमानः स च द्वयो-
र्नायकयोर्भवति तत्र नायकस्य यद्योत्तररामचरिते—

“अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गवत्सेक्षणः

सा हंसैः कृतकौतुका चिगमभृद्रोदावरीसैकते ।

आयान्त्या परिदुर्मनायिनमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया

कातर्यामरविन्दबुद्बुलनिमो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥”

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य—

“प्रणयकुपिता दृष्ट्वा देवां ससंभ्रमविस्मित-

स्त्रिभुवनगुरुर्भोत्या सद्यः प्रणामपणेऽभवत् ।

नमितशिरसो गङ्गाश्लोके तथा चरणादृता-

वत्तु भवतरुयक्षस्यैतद्विलक्ष्मवस्थितम् ॥”

उभयोः प्रणयमानो यथा—

“दण्डअकुविआण दोहवि अलिअपसुत्ताण माणइन्ताणम् ।

णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णअण्णाण को मल्लो ॥”

स्त्रीणामीप्यकृतो मानः कोपोऽन्यासद्विनि प्रिये ।

श्रुते वानुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुस्तात् ॥ ५९ ॥

उत्स्वप्नापितभोगाङ्गुगोत्रस्खलनकल्पितः ।

त्रिधानुमानिको, दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ॥ ६० ॥

ईर्ष्यामानः पुनः स्त्रीणामेव नायिकान्तरसद्विनि स्वकान्ते उपलब्धे
सत्यऽन्यासङ्गः श्रुतो वानुमितो दृष्टो वा (यदि) स्यात्, तत्र श्रवणं
सखीवचनात्तरया विश्वास्यत्वान् यथा ममैव—

नायकयोः=नायिकानायकयोस्तिवर्षः । नायकस्य=नायकसमवेतः । नायि-
काया=नायिकासमवेतः । उभयोः=नायिकानायकयोर्मयसमवेतः ॥ ५८ ॥

१ “कोपावेशित” इति पादान्तरम् ।

२ “प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यस्त्रीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।

निधननिरुद्धनिश्वासदत्तकर्णयोः को मलः ॥” इति श्लोका ।

‘मुधु त्वं नवनीतस्त्यहृदया केनापि दुर्मन्त्रिणा

मिथ्यैव प्रियकारिणा मधुमुत्तेनास्मासु चण्डीकृता ।

किं त्वेतद्विमृश क्षणं प्रणयितामेणास्त्रि कस्ते हितः

किं धार्त्रातनया क्यं किमु सरी किं वा किमस्मत्सुहृन् ॥”

इत्स्वप्रायितो यथा रुद्रस्तम्—

“निर्मयेन मयान्मसि स्मरभरादाली समालिङ्गिता

केनालीकमिदं तथाय कथितं रावे मुधा तान्यसि ।

इत्युत्स्वप्रपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणः

सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठमहः पातु वः ॥”

भोगाद्धानुमितो यथा—

“नवनरपद्मद्वं गोपयस्यंशुकेन

स्थायसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तद्वयम् ।

प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गदंसी विसर्पन्

नयपरिस्लगन्धः केन शन्यो वरीतुम् ॥”

गोनरसलनकल्पितो यथा—

“केलीगोत्तमखलणे विदुष्य केभवं अभाणन्ती ।

दुष्ट उअसु परिहासं जाया सर्वं विअ परुणा ॥”

दृष्टो यथा श्रीमुखस्य—

“प्रणयवृषिता दृष्ट्वा देवीं ससंभ्रमविस्मित-

स्त्रिमुनशुरुर्मात्स्या सद्यः प्रणामपरोऽभवन् ।

नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-

वतु भक्तलयश्चन्यैतद्विलसमस्थितम् ॥”

एवम्—

यथोत्तरं गुरुः पद्भिरुपायैस्तमुपाचरेत् ।

मात्रा मेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥ ६१ ॥

एवम्—श्रुतातुमित्रदृष्टन्वसङ्गप्रशुभानामुक्तानां मानाना मध्ये उत्तरोत्तरं मानो
गुह्येनो निगमो भवतीत्यर्थः । तम्—मानम् । उपाचरेत्—निगारेत् ॥ ६१ ॥

१ “केलीगोत्तमखलने विदुष्यति केतवमभाणन्ती ।

दुष्ट पदं परिहासं जाया सन्यमिव प्रदिता ॥” इति वक्ष्यया ।

तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
 दानं व्याजेन भूपादेः, पादयोः पतनं नतिः ॥ ६२ ॥
 सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
 रथसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंषो रसान्तरम् ॥ ६३ ॥
 कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः ।

तत्र प्रियवचः साम यथा समैव—

‘स्मितशोक्लाभिस्ते धवलयाति विश्वं मुखशशी
 दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परितः ।
 वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिशु तदिदं
 कुतस्ते पारुष्यं मुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥’

यथा वा—

‘इन्द्रीन्द्रेण नयनं मुखमम्बुजेन
 कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
 अङ्गानि चम्पकदलैः ॥ विधाय वेधाः
 कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः॥’

नायिकासखीसमावर्जनं भेदो यथा समैव—

‘कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
 धृताः स्मित्वा हस्ते विसृजसि कथं मुधु बहुशः ।
 प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाद्य गुणितो
 वृथा यत्र क्षिप्त्वाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥’

दानं व्याजेन भूपादेर्यथा माथे—

‘मुहुरपहसितामिवालिनादै-
 र्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
 अभिरजनि गतेन घाञ्जि तस्याः
 शठ कलिरेव महांस्त्वयाद्य दत्तः ॥’

पादयोः पतनं नतिर्यथा—

‘नेत्रकोटिविलगं चिह्नं दद्विजस्य पादपडिजस्य ।
 द्विजसं माणपड्यं उम्माजं चि चिज कहेइ ॥’

१ ‘नूपुरकोटिविलगं चिह्नं दद्विजस्य पादपडिजस्य ।
 हृदय मानपदोत्पमुक्तमित्येव कथयति ॥’ इति प्लवाङ्ग ।

उपेक्षा तदवधारणं यथा—

“किं गतेन नदि युक्तमुपैतुं नेश्वरे परुषता सति साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥”

रमसप्रासहर्षादे रसान्तरात्कोपभ्रंशो यथा भूमौ—

‘अभिव्यक्तार्थैः सजलविफलोपायविभव-
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृत्यसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे पृष्ठे विभिदमिति संग्रास्य सहसा
कृताश्लेषा धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥”

अथ प्रसासविप्रयोगः—

कार्यतः संभ्रमाच्छापात्मवासो भिन्नदेशता ॥ ६४ ॥
द्वयोस्तत्राभुनिःश्वासकार्यलम्बालकादिता ।
स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वकः ॥ ६५ ॥

आद्य कार्यज्ञ समुद्रगमनसेवादिकार्यवशप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वादू-
अभिव्यक्तैर्मानतया त्रिविधः ।

तत्र यास्यत्प्रवासो यथा—

“होन्तपहिमस्त जाआ आउच्छणमीमधारणरहस्तम् ।
पुच्छन्ती भमइ परं घरेसु पिअविरहसहिरीआ ॥”

गच्छत्प्रवासो यथाभरतके—

“ग्रहविरतौ मध्ये बाह्वस्ततोऽपि परेऽप्यत्र
दिनकृति गते वास्तं नाथ त्वमद्य समेप्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सवाप्यगलज्जलैः ॥”

यथा वा तत्रैव—

“देशैरन्तरिता शक्तश्च सरितामुर्वीमृता काननै-
र्येवेनापि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि ।
उर्ध्ववक्षरणार्धरुद्धवमुधः कृत्वाश्रुपूर्णे दशौ
तामाशा पथिकस्तथापि किमपि ध्यात्वा चिरं तिष्ठति ॥”

यास्यत्प्रवासः—भारिष्यत्कालिकगमनवर्तमानका-
लिकगमनवर्तमानका । गच्छत्प्रवासः—वर्तमानका-

१ “अभिव्यक्तपथिकस्य जाआ जायु क्षणजीवधारणरहस्तम् ।

पुच्छन्ती भमति गृहानुदेसु पिअविरहसहीका ॥” इति च्छाया ।

गतप्रवासो यथा मेघदूते—

“उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां

मद्रोत्राङ्गं विरचितपदं गेयमुद्रातुकामा ।

तन्त्रीमार्द्रा नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्

भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥”

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावादेव्यत्प्रवासस्य च गतप्रवासाऽविशेष-
पात्रैर्विध्यमेव युक्तम् ।

द्वितीयः सहस्रोत्पन्नो दिव्यमानुषविभवात् ।

उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविभवात् परचक्रादिजन्यविभवाद्वा बुद्धि-
पूर्वकत्वादेकरूप एव संभ्रमजः प्रवासः यथोर्वशीपुरुषसोर्विक्रमोर्वीश्यां
यथा च कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यां मालतीमाधवयोः ।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥ ६६ ॥

यथा कादम्बर्या वैशंपायनस्येति ।

मृते त्वेकत्र यन्नान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।

व्याश्रयत्वात् नृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥ ६७ ॥

यथेन्दुमतीमरणादभ्रस्य करुण एव रघुवंशे, कादम्बर्या ॥ प्रथमं
करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति ।

गतप्रवासः=गतस्य प्रवासः ।

एव्यत्प्रवासस्य=आगमिव्यत्प्रवासस्य । त्रैविध्यमित्यत्र प्रवासस्येति शेषः ॥ ६५ ॥

द्वितीयः=संभ्रमजः ॥ ६६ ॥

स्वरूपान्यत्वकरणात्=स्वरूपान्यथाभावापत्त्या ।

व्याश्रयत्वात्=आलम्बनलक्षणस्याश्रयस्याभावात् आलम्बनस्य मरणेन विन-
ष्टत्वात् शृङ्गारस्य चालम्बनं विनानुपपत्तेः, शोककरुणयोस्तु विनष्टत्वैवाल्म्ब-
नत्वस्वीकारादिति भावः ।

प्रत्यापन्ने=सयोगाभावाद्युत्पन्नाया तु इतरे=करुणो न भवति किं तु विप्र-
लम्भशृङ्गार एवेत्यर्थः ॥ ६७ ॥

१ “निराश्रयात्” इति पाठान्तरम् ।

तत्र नायिकां प्रति नियमः—

प्रणयायोगयोरुक्ता, भवासे प्रोषितमिया ।

कलहान्तरितेर्प्यायां विप्रलब्धा च खण्डिता ॥ ६८ ॥

अथ संभोगः—

अनुकूलौ निषेवेते यद्यान्योन्यं विलसिना ।

दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ॥ ६९ ॥

यद्योत्तररामचरिते—

“किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-

द्विरलितरूपोलं जल्पतोरक्रमेण ।

सपुलरुपरिरम्भन्यापृतैरैकदोष्यो-

रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंमीन् ॥”

अथवा । “मिये किमेतम्—

चिन्तिष्येतुं क्षम्यो न सुरमिति वा दुःखमिति वा

प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मद्ः ।

तप स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो

विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥”

यथा च मज्झिम-

‘लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिविशं कृष्णागरुक्ष्यामले

वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वद्भि दूरोन्नते ।

नासायंशमनोऽक्षकतकतनुर्भूषणगर्भोद्धत-

धुम्प्रीस्तिलकः सहेलमलकैर्भृङ्गैरिवापीयते ॥”

चेष्टास्तत्र भवन्ते लीलाया दश योपिताम् ।

दाक्षिण्यमार्दवमेष्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥ ७० ॥

तत्र=उत्तमानादौ विप्रलम्भे वा । प्रणयायोगयोः=प्रणये सत्यप्रयोगे उक्ता भवतीत्यर्थः । विप्रलब्धाया अपि नायकेऽन्यासक्तत्वादिमत्वा ईर्ष्या सम्भवती-
तीर्ष्याया विप्रलब्धा खण्डिता कलहान्तरिता चेत्ता । वासकसजाभिसारिक-
योस्तु प्रियसाक्षिण्याभावेऽपि सद्यः संगमाशया वियोगदुःखं न भवतीति न ते
विप्रयोगनायिके । स्वाधीनमर्तृता तु न विद्युनेति अष्टानामपि व्यवस्थोक्ता
विज्ञेया ॥ ६८ ॥

ताश्च सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिताः ।

रमयेचादुकृतान्तः कलाकीडादिभिश्च ताम् ।

न ग्राम्यमाचरोत्कचिर्नर्मभ्रंशकरं न च ॥ ७१ ॥

ग्राम्यः संभोगो रङ्गे निषिद्धोऽपि काव्येऽपि न कर्तव्य इति पुनर्नि-
षिच्यते यथा रत्नावल्याम्—

“हृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्याघृतेन हस्तेन ।

उज्जिष्ठापरमृदुतरकिसलय इष लदयतेऽशोकः ॥” इत्यादि ।

नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकालक्षणाद्युक्तं कविपरम्पराव-
गतं स्वयनौचित्यसंभावनानुगुण्येनोपेक्षितं धातुसंदधानः सुकविः शृङ्गार-
मुपनिबध्नीयात् ।

अथ वीरः—

वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व-

मोहाविपादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।

उत्साहभूः स च दयारणदानयोगा-

धैर्या किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ॥ ७२ ॥

प्रतापविनयादिभिर्विभावितः करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृति-
हर्षोन्मत्तस्थितिमतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साहः स्थायी स्वदत्ते-भावक-
मनोविस्तारानन्दाय प्रभवतीत्येष वीरः, तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे
जीमूतवाहनस्य, युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य, दानवीरः परशुरामशलिग्र-
भृतीनाम्—“ त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीतिर्व्याजदानावधिः ” इति ।

“ सर्वप्रस्थिबिमुक्तसंधि विकसद्भक्षः स्फुरत्कौस्तुभं
निर्यत्राभिसरोजकुङ्कुमलकुटीगम्भीरसामन्वनि ।

पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितां

पाथाद्भः क्रमवर्तमानमहिमाश्रय्य मुरारेर्वपुः ॥ ”

नर्मभ्रंशकरम्-कोष्ठादिकं च न शृङ्गारे उपनिबध्नीयात् ।

“हृष्टस्त्वयैषः” इति न ग्राम्यसंभोगोदाहरणम् ।

वीरराजं निरूपयति-वीर इत्यादिना । अस्य प्रतापादय उद्दोषनविभावः ।

कुरुतेति-दयावीरे करुणा, युद्धवीरे रणः, दानवीरे दानमनुभाव इत्येव-

न्वयः ।

यथा च ममैव—

‘ लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गुं कुमारुणितो हरेः ।

वल्लिरेप ॥ येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥ ’

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसंधेयम् । प्रतापगुणाऽऽजर्जनादिनापि
वीराणां भावाभैर्धं प्रायोवादः । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिप्रोधानुभाव-
हितो युद्धवीरोऽन्यथा नैवः ।

अथ वीभत्सः—

वीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवपुःप्रायैर्जुगुप्सैकम्-

उद्वेगी रुधिरान्नकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः ।

वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो

नासावक्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादयः ॥ ७३ ॥

अत्यन्ताहृद्यैः कृमिपूतिगन्धिप्रायविभावैरुद्धूतो जुगुप्सास्थायिभान्-
परिपोषणलक्षण उद्वेगी वीभत्सः यथा मालनीमाधवे—

विनयादयो नायनप्रकरणे उदाहृता इत्याह—विनयादिष्विति । प्रतापेति—
तथा च प्रतापवीरो गुणवीरश्चेत्यपि वीरभेदाः संभवन्ति यथा पूर्वशालिङ्गविद्वांसः ।

अन्यथा—प्रस्वेदादिसत्त्वे ॥ ७२ ॥

वीभत्समाह—वीभत्स इति, तत्र वीभत्सो त्रिविधः—कृमिपूतिगन्धिनिभावैरु-
द्भावित उद्वेगी—मनोमालिन्वघृणादिकारी यथा—“ उत्तु योदुत्प ” इत्यत्र ।
रुधिरान्नकीकसादियिमावैरुद्भावितश्च क्षोभणः—भयमिभ्रग्लानिकरः क्रिया भय-
करो यथा—“ आन्नप्रोत ” इत्यत्र । जघनस्तनादिषु वैराग्याद् या घृणा स शुद्धो
वीभत्सो यथा—“ लाला यथासव वेति ” इत्यत्रेति विवेकः । नासावक्रविकूणना-
दिभिरनुभावैर्वृतः, आवेगादयश्चान्न व्यभिचारिणो भवन्तीत्यन्वयः । विकूणनम्—
विहृतविमुत्सीकरणम् ।

१ संस्कृतविद्याया यथा श्रीरङ्गाचार्यस्वामिनः श्रीकाशीनाथशास्त्रिण श्रीराजारामशास्त्रिणः
परमप्रसिद्ध श्रीबालशास्त्रिण म. म. सी. आर्ट. ई. श्रीगङ्गाधरशास्त्रिणः । श्रीशिवकुमारशास्त्रिण
श्रीसीतारामशास्त्रिण । श्रीमहोदयशास्त्रिण श्रीदामोदरशास्त्रिण श्रीमुसल्लुशास्त्रिण श्रीकाका-
रामशास्त्रिण । संगतविद्याया श्रीअमृतसेननायका श्रीरवीमसेननायका श्रीमुखसेननायका ।
श्रीदेवसेननायका । समादृतमहाशयानामक, हृदय इत्युक्ता प्रभृतयश्च । वैजनायक-
स्तनसेननायक इति तु जगज्जयप्रसिद्धमित्यल विस्तरेण ।

“ वत्तृत्योत्कृत्य कृत्ति प्रथममथ पृथूच्छोपभूयांसि मांसा-
न्यंसस्मिन्नपृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युपपूर्तीनि जग्न्वा ।

आतः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-

दङ्कस्थादस्थितंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमन्वाप्रमत्ति ॥ ”

रुधिरान्त्रवसार्काक्समांसादिविभावः क्षोभणो वीभत्सो यथा वीर-

चरिते—

“ भान्त्रप्रोतपृहत्कपालनलङ्कूरकण्ठककुण-

प्रायप्रेक्षितभूरिभुपणरवैराचोपयन्त्यम्बरम् ।

पीतोच्छर्दितरक्तकर्मधनप्राग्भारघोररोहस-

व्यालोलस्तनभारभैरवकुर्वन्वोद्धतं धावति ॥ ”

रम्येष्वपि रमणीयजघनस्तनादिषु वैराग्यादधूणा शुद्धो वीभत्सो यथा—

“ लालां वक्तासवं वेत्ति मांसपिण्डौ पयोधरौ ।

मांसास्विकृतं जघनं जनः कामप्रहातुरः ॥ ”

न चायं शान्त एव विरक्तः—यतो वीभत्समानो विरग्यते ।

अथ रौद्रः—

क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोपोऽस्य रौद्रोऽनुजः

क्षोभः स्वाधरदंशकम्पभृकुटिस्वेदास्वरागैर्युतः ।

शस्त्रोल्लासविकृत्यनांसधरणीयातप्रतिज्ञाग्रै-

रत्रामर्षमदी स्मृतिश्चपलतासूयौड्यवेगादयः ॥ ७४ ॥

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते—

“ त्वं द्रष्टवर्षसधरो यदि बर्तमानो

यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धरः स्वाः ।

“ लालां ॥ ” इत्यन निवद्धो विरक्तः शान्त एवेति न वक्तव्यं येन शान्तरूप

विपश्चाद्वारः स्वात् किं तु—वीभत्समानो विरग्यते वैराग्यान्तरं च शान्तो भव-
तीति वैराग्यादग्रे शान्तिरिति विषयमेदः । अत्र ‘ विरक्तश्च शान्त्यति ’
इति शेषः ॥ ७३ ॥

रौद्रं निरूपयति—क्रोधो रौद्रः । वैरिवैकृतम्—वैरिहतापमारुतमयैः तन्मयाने-
र्विभावैरस्य=क्रोधस्य य. पोपः स एव रौद्रः रौद्रानुजश्च क्षोभः । अत्र स्वाध-
रदंशदयोऽनुमायाः, अमर्षादयो व्यभिचारिणः ।

उप्रेण मोस्तव तपस्तपसा दहामि

पक्षान्तरस्य सदृशं परशुः करोति ॥ ”

वैरिवैरुतादिर्यथा वेणीसंहारे—

“ लाक्षागृहानलविपात्रसभाप्रवेशैः

प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।

आकृष्टपाण्डवधूपरिधानकेशाः

स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ? ॥ ”

इत्येवमादिविभावैः प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुभावैरमर्षादिव्यभिचारिभिः क्रोधपरिपोषो रौद्रः परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु वीरचरितवेणीसंहारादेरनुगन्तव्यः ।

अथ हास्यः—

विकृताकृतिवाग्नेपैरात्मनोऽथ परस्य वा ।

हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥ ७५ ॥

आत्मस्यान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानऽवलम्बमानो हासस्तत्परिपोषात्मा हास्यो रसो व्यभिष्टानो भवति स चोत्तममध्यमाधम-प्रकृतिभेदात्पद्मिधः ।

आत्मस्थो यथा रावणः—

“ जातं मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्भूतं

हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचितं छिष्टा जटाः कुन्तलाः ।

रुद्राक्षैः सकलैः सरत्नबलयं चित्रांशुकं वल्कलं

सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः ॥ ”

परस्यो यथा—

“ भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरूपे ? किं तेन मद्यं विना

किं ते मद्यमपि प्रियम् ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।

वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा

चौर्यद्यूतपरिमहोऽपि भवतः ? नष्टस्य कान्या गतिः ॥ ”

इत्येवमादिभिः—लाक्षागृहप्रवेशनादिभिः ॥ ७४ ॥

हास्यं निरूपयति—विकृतेति । त्रिप्रकृतिरिति—उत्तममध्यमाऽधमभावेन त्रिधा प्रकृतिः—आभयो यस्य स त्रिप्रकृतिः ।

आत्मस्थपरस्थभेदेन द्वयधिष्ठानः । सः—द्विविधोऽपि ॥ ७५ ॥

स्मितमिह विकासिनयनम्, किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात् ।

मधुरस्वरं विहसितम्, सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥ ७६ ॥

अपहसितं सास्त्राक्षम्, विस्मिताङ्गं भवत्यतिहसितम् ।

द्वे द्वे हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥ ७७ ॥

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते, मध्यमस्य विहसितोपहसिते, अग्रमस्याऽपहसितातिहसिते, उदाहृतयः स्वयमुल्लेख्याः । व्यभिचारिणश्चास्य—

निद्रालस्यभ्रमग्लानिमूर्छाश्च सहचारिणः (व्यभिचारिणः) ।

अथाहुतः—

अतिलोकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्पा रसोऽद्भुतः ॥ ७८ ॥

कर्मास्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्रदाः ।

हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः ॥ ७९ ॥

लोकसीमातिवृत्तपदार्थवर्णनादिविभावितः साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मयः स्थायिभावो हर्षावेगादिभावितो रसोऽद्भुतः यथा—

“दोर्दण्डाश्रितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डाऽवभङ्गोद्धत-

पट्टारण्यनिरार्ययालचरितप्रस्तावनादिण्डिमः ।

द्राक्पर्याप्तकपालसंपुटमिलद्रक्षाण्डभाण्डोदर-

भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमसौ नाद्यापि विभ्राम्यति ॥”

इत्यादि ।

अथ भयानकः—

विकृतस्वरसच्चादेर्भयभावो भयानकः ।

सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैचिर्यलक्षणः ।

दैन्यसंभ्रमसंभोहनासादिस्तत्सहोदरः ॥ ८० ॥

रौद्रशब्दश्रवणाद्रौद्रसत्त्वदर्शनाच्च भयस्यायिभावप्रभवो भयानको रसः तत्र सर्वाङ्गवेपथुप्रमृतयोऽनुभावाः दैन्यादयस्तु व्यभिचारिणः, भयानको यथा—

अतिलोकैः=अलौकिकैः, एतदेवोक्तम्—“लोकसीमातिवृत्त” इति ।

“शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य कुञ्जीभूय शनैः शनैः ।

यथातथागतेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥”

यथा च रत्नावल्यां प्रागुदाहृतम्—“नष्टं धर्पवरैः” इत्यादि ।

यथा च—

“स्वगेहात्पन्थानं तत्र उपचितं काननमग्रे

गिरिं तस्मात्सान्द्रद्रुममह्नमस्मादपि गुहाम् ।

तदन्वङ्गान्यद्गैरभिनिविशमानो न गणय-

त्यरातिः कालीये तव विजययात्राचकितधीः ॥”

अथ करुणः—

इष्टनाशादनिष्टौसौ शोकात्मा करुणोऽनु तम् ।

निःश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ॥ ८१ ॥

स्वापापस्मारदैर्न्याधिपरणालस्यसंभ्रमाः ।

विपादजहतोन्मादचिन्ताया व्यभिचारिणः ॥ ८२ ॥

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्विनाशादऽनिष्टस्य तु बन्धनादेः प्राप्या शोक-
प्रकर्षप्रः करुणः, तमन्विति तदनुभावनिःश्वासादिकथनम्, व्यभिचारि-
णश्च स्वापापस्मारादयः । इष्टनाशात्करुणो यथा कुमारसंभवे—

“अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिघायोत्पितया तया पुरः ।

ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलमस्म केवलम् ॥”

इत्यादि रतिप्रलापः । अनिष्टावाप्तेः सागरिकाया बन्धनाद्यथा रत्नावल्याम् ।

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाप्रादयो रसाः ।

हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥ ८३ ॥

स्पष्टम् ।

करुणं निरूपयति—इष्टनाशादिति । अनु तम्—तदनन्तरं निःश्वासादयः रुद-
णानुभावाः—तदनन्तरं जायमानानामेवानुभावप्रदार्पित्वादित्यर्थः । शोक आत्मा
स्थायी यस्येति शोकात्मा । इष्टनाशादयश्च विभावाः, स्वापादयो व्यभि-
चारिणः ॥ ८२ ॥

सागरिकाबन्धनं तु करुणोदाहरणं न हृदयगमम् ।

१ “आप्तेः” इति पाठान्तरम् ।

पद्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः ।

लक्ष्यसंध्यन्तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च ॥ ८४ ॥

“विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च” इत्येवमादीनि पद्त्रिंशत् (विभूषणादीनि) काव्यलक्षणाणि “साम भेदः प्रदानं च” इत्येवमादीनि संध्यन्तराण्येकविंशतिरूपमादिष्वलङ्कारेषु ह्योत्साहादिषु चान्तर्भावान्न पृथगुक्तानि ।

॥ इति श्रीविष्णुसूनोर्यनिकस्य कृतौ दशरूपावलोक्ये रसविचारो
नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥

भूषणादीनीति-तदुक्तं भरतेन पौडगे-

“विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च ।
प्रोत्साहनोदाहरणे निरुक्तं गुणानुषादोतिशयश्च हेतुः ॥
सारूप्यमिध्याप्यवसायसिद्धिपदोच्चयानन्दमनोरथाश्च ।
आख्यानयाच्चाप्रतिषेधपृच्छादृष्टाङ्गनिर्भासनसंशयाश्च ॥
आशी, प्रिय वै वपट क्षमा च प्राप्तिश्च पश्चात्तपन तदेव ।
अधानुवृत्तिर्भुषणपत्तिवृत्ती कार्यानुनीती परिदेवन च ॥
पद्त्रिंशदेतानि तु लक्षणाणि प्रोक्तानि वै भूषणसममतानि ।
काव्येषु भाषार्थमतानि तज्ज्ञैः सम्बद्धं प्रयोज्यानि यथारसं तु ॥” इति ।

सामादीनीति-तदुक्तं भरतेनैकोनविंशाध्याये-

“संध्यन्तराणि वक्ष्यामि त्वर्थोपश्लेषकाणि च ।
साम भेदस्तथा गण्डः प्रदानं वध एव च ॥
प्रत्युत्पन्नमतित्वं च गोत्रसरत्नितमेव च ।
साहसं च भयं चैव ह्रीर्माया क्रोध एव च ॥
ओजः संवरणं भ्रान्तिस्तथा हेत्ववधारणम् ।
दूतो रेखस्तथा स्वप्नश्चित्रं मय इति स्मृतम् ॥
संध्यन्तराणि सधीना निरोपास्त्वेकविंशतिः ॥” इति ।

तत्र विभूषणादीनामुपमादिषु सामादीनां हर्षादिष्वन्तर्भाव इत्यर्थः । मूले “रसं
मन्तर्भावान्न कीर्तिता” इति पूर्वोक्तमनुवर्तनीयम् । तेषु=हर्षादिषु ॥ ८४ ॥

रम्यं जुगुप्सितमुदारमयापि नीच-

मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।

यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं

तन्नास्ति यत्र रसभावमुपैति लोके ॥ ८५ ॥

विष्णोः स्मृतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागगिवन्धहेतुः ।

आविष्कृतं मुञ्जमर्द्दशगोष्ठीर्वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥ ८६ ॥

॥ इति श्रीविद्वद्वरचनजयप्रणीतं दशरूपकं

समाप्तम् ॥

रम्यमिति-लोके तत् किमपि नास्ति यद् भावकेन कविना भाव्यमान रस-
मानम्-रसत्वम्-रसरर्चक न स्यादित्यर्थः ॥ ८५ ॥

॥ इति चतुर्थः प्रकाशः ॥

इति पञ्चमदीपपण्डितसुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीता

सायलोकदशरूपकस्य प्रभाष्या ध्याख्या

समाप्ता



उदाहृतश्लोकानामनुक्रमणिका ।

—cognitive behavioral therapy—

| श्लोकः । | कविनाम | ग्रन्थनाम वा । | पृष्ठम् । |
|------------------------------|-------------------------|----------------|-----------|
| अकूपणमतिः कामं जीव्यात् | वेणीसंहारे | ... | ४६ |
| अच्छिन्नं नयनाम्बु ... | अमरुशतके | ... | १४० |
| अण्डादुणादुमहेलिअ ... | ... | ... | १४४ |
| अध्रान्तरे किमपि याग्विभ | मालतीमाधवे | ... | ८५ |
| अद्यैव किं न विमृजेयमहम् | वेणीसंहारे | ... | १८ |
| अद्वैतं मुखदुःखयोः ... | उत्तररामचरिते | ... | ६१ |
| अनामानं पुष्पम् ... | शाकुन्तले | ... | ८२ |
| अग्नेः स्वैरपि संयताग्र चरणः | धनिकस्य | ... | ६३ |
| अग्नेः कल्पितमङ्गल ... | मालतीमाधवे | ... | १४५ |
| अन्यासु तापदुपमर्द ... | विक्रान्तिनम्प्रायाः... | ... | १४१ |
| अन्योन्यास्फालभिन्नक्षिप ... | वेणीसंहारे | ... | १८ |
| अप्रियाणि करोत्येव ... | वेणीसंहारे | ... | १८ |
| अभिष्यत्तालीकः ... | धनिकस्य | ... | १०-१७६ |
| अभ्युद्गते शशिनि ... | ... | ... | ८५ |
| अभ्युद्गतस्तनमुरो नयने ... | धनिकस्य | ... | ७० |
| अयमुदयति चन्द्रः ... | ... | ... | १२२ |
| अपि जीवितनाथ जीवसि... | कुमारसंभवे | ... | १८४ |
| अर्धिमाम्नि विदार्य ... | ... | ... | १०७ |
| अर्धित्वे प्रकटीकृतोऽपि ... | वीरचरिते | ... | १३१ |
| अलसदुलितमुग्धान्यथ ... | उत्तररामचरिते | ... | १२८ |
| असौषनिर्भस्तिताग्र ... | कुमारसंभवे | ... | १९८ |
| असंगये क्षप्रसिम्ह ... | शाकुन्तले | ... | १०१ |
| असृत् सद्यः पुमुग्धान्यशोकः | कुमारसंभवे | ... | १६८ |
| अस्मिन्निविष्टमग्ना ... | शोषर्षनस्य | ... | १३० |
| अस्तापास्तसमस्तभासि ... | रत्नावल्याम् | ... | १३ |
| अस्मिन्नेव स्तान्दरे ... | उत्तररामचरिते | ... | १०१ |
| अस्ताः सगंधिणी ... | विक्रमोर्वश्याम् | ... | १२२ |

| श्लोकः । | कविनाम ग्रन्थनाम वा । | पृष्ठम् । |
|------------------------------|-----------------------|-----------|
| आगच्छागच्छ सज्जम् ... | धनिकस्य ... | १३७ |
| आताम्रतामपनयामि ... | रत्नावल्याम् ... | ३० |
| आत्मानमालोक्य च ... | कुमारसंभवे ... | १४१ |
| आद्यद्विप्रसरात्प्रियस्य ... | अमरुशतके ... | ७७ |
| आनन्दाय च निरुमयाय ... | वीरचरिते ... | ९३ |
| आन्नप्रोतबृहत्पाल ... | वीरचरिते ... | १८१ |
| आयस्ता कलह पुरे ... | अमरुशतके ... | ७१ |
| आयाते दयिते ... | अमरुशतके ... | १२९ |
| आलापान्धूयिलास ... | | ६८ |
| आशङ्कप्रदृणादुपुण्ड्रपद्मोः | वेणीसंहारे ... | २० |
| आश्लिष्टभूमि रमितारमुद्ये | माधे ... | १३६ |
| आसादितप्रगाढनिर्मल . . | | ९९-१०१ |
| आहूतस्याभिप्रेकाय .. | | ५५-६४ |
| इन्दीवरेण नयनम् ... | धनिकस्य ... | १७५ |
| इय मेहे लक्ष्मीरियममृत .. | उत्तरचरिते ... | १०५ |
| इय मा लोलाधी त्रिभु... .. | | १४४ |
| उचित प्रणयो यर विहन्तु | मालविकाग्निमित्रे ... | ६० |
| उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्त ... | धनिकस्य ... | ६७ |
| उज्जुम्भाननमुल्लसत् .. | धनिकस्य ... | १२३ |
| उत्कृत्योत्कृत्य कृतिम् ... | मालतीमाधवे ... | १८१ |
| उत्कृत्योत्कृत्य गर्भान् . . | वीरचरिते ... | १३० |
| उत्तालताद्वयोत्पातदर्शने | वीरचरिते ... | ६३ |
| उत्पिष्ट दूति यामो यामो | | ७७ |
| उत्पत्तिर्नमदमित ... | वीरचरिते ... | ५२ |
| उत्सङ्गे वा मलिनवसने | मेघदूते ... | १७७ |
| उद्दामोत्कलिकाम् .. | रत्नावल्याम् ... | ८ |
| उन्मीलद्बदनेन्दुदीप्ति .. | | ८२ |
| उपोदरागेण विलोलवारकम्... | | १५४ |
| उरसिनिहितस्तारो हारः | अमरुशतके ... | ७७ |
| एकत्रासनसंस्थिति ... | अमरुशतके ... | ७१ |

| श्लोकः । | वविनाम ग्रन्थनाम वा । | पृष्ठम् । |
|--------------------------------|-----------------------|-----------|
| वोपात्कोमललोलबाहु ... | अमरुशतके ... | ७१ |
| वोऽपिसिंहासनस्याधः ... | छलिनरामे ... | १०२ |
| कोपो यत्र भुङ्क्तेरचना ... | अमरुशतके ... | ७१ |
| मौधान्धैर्यस्य मोक्षात् ... | वेणीसंहारे ... | ४५ |
| कृत्वाप्यूलकः ... | अमरुशतके ... | ७० |
| क्षितो हस्ताथलग्नः ... | अमरुशतके ... | १३९ |
| खर्गग्रन्थिबिमुक्तमधि ... | | १७९ |
| गमनमलस शून्या दृष्टिः ... | मालतीमाधवे ... | ९१ |
| चक्षुर्लसमयीकणम् ... | | १६८ |
| चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदा ... | वेणीसंहारे ... | १५-४१ |
| चलति कथचिन्मृष्टा ... | धनिकस्य ... | १३७ |
| चाणक्यनाम्ना तेनाथ ... | मृहत्कथायाम् ... | ५१ |
| चित्रवर्तिन्यपि नृपे ... | पद्मगुप्तस्य ... | ८६ |
| चिररतिपरितेजःप्राप्तनिद्रा ... | माधे ... | १३५ |
| चूर्णिताशेषशैरुख्यः ... | वेणीसंहारे ... | ३९ |
| जगति जयिनस्ते ते ... | मालतीमाधवे ... | १६९ |
| ज किं पि वेच्छमाण ... | धनिकस्य ... | ८१ |
| जन्मेन्दोरमलैः कुले ... | वेणीसंहारे ... | ३५ |
| जातं मे पदपेण भस्म ... | | १८२ |
| जीयन्ते जयिनोऽपि ... | उदात्तराधवे ... | ९४ |
| शान्तिप्रीतिर्मनसि न कृता ... | वेणीसंहारे ... | ३५ |
| ज्वलन्तु गगने रात्रौ रात्रौ .. | मालतीमाधवे ... | ८४ |
| णेउरकोडिविलम्ब ... | गाथासप्तशत्याम् ... | १७५ |
| त वीक्ष्य वेपथुमती ... | कुमारसंभवे ... | १७२ |
| त चित्र वअण ते च्चेअ . | धनिकस्य ... | ८१ |
| तत उदयगिरेरिवैव एव .. | मालतीमाधवे ... | ५५ |
| ततश्चाभिज्ञाय .. | अमरुशतके ... | १३२ |
| तथा व्रीडाविधेयापि ... | धनिकस्य ... | ८३ |
| तदवितयमपादीर्यन्मम ... | माधे ... | ९० |
| तनुत्राण तनुत्राणम् ... | | १३८ |

श्लोकः ।

कविनाम ग्रन्थनाम वा ।

पृष्ठम् ।

| | | | | | |
|------------------------------|-----|------------------|-----|-----|---------|
| देव्या मद्बचनाद् | ... | रत्नावल्याम् | ... | ... | ३९ |
| देवे वर्णत्यशनपयन | ... | ... | ... | ... | १३८ |
| देवैरन्तरिता शतैश्च | ... | अमरुशतके | ... | ... | १७६ |
| दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखर | ... | ... | ... | ... | १८३ |
| द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तम् | ... | वेणीसंहारे | ... | ... | ३८-१०५ |
| द्वीपादन्यस्मादपि ... | ... | रत्नावल्याम् | ... | ... | ९-१२ ९९ |
| धृतायुधो यावदहम् | ... | वेणीसंहारे | ... | ... | २९ |
| न खलु वयममुष्य ... | ... | माघे... | ... | ... | ६९ |
| न च मेऽवगच्छति यथा | ... | माघे... | ... | ... | ७८ |
| न जाने समुपजायते | ... | अमरुशतके | ... | ... | ७० |
| नन्वेव राक्षसपते, स्तजलित | ... | वीरचरिते | ... | ... | १४१ |
| न पण्डिताः साहसिकाः | ... | ... | ... | ... | १३७ |
| न मध्ये सस्कारम् | ... | ... | ... | ... | ६७ |
| नगनलधरः सन्नद्धोऽयम् | ... | विक्रमोर्वश्याम् | ... | ... | १४० |
| नगनलपदभङ्गम् | ... | माघे... | ... | ... | ७६-१७४ |
| नष्ट धर्मवैर्मनुष्यगणना | ... | रत्नावल्याम् | ... | ... | ९५ |
| नान्दीपदानि रतिनाटन | ... | ... | ... | ... | ८६ |
| निश्वासा वदन दहन्ति | ... | अमरुशतके | ... | ... | ७७ |
| निजपाणिपल्लवतटस्तजलनात् | ... | माघे... | ... | ... | ७६ |
| निद्रार्धमीलितदृशा | ... | विल्हणस्य | ... | ... | १३५ |
| निर्ममेन मयाम्भसि | ... | रुद्रस्य | ... | ... | १७४ |
| निर्वाणवैरिदहना. | ... | वेणीसंहारे | ... | ... | १०१ |
| नूनं तेनाद्य वीरेण... | ... | वेणीसंहारे | ... | ... | ३७ |
| न्यकारोत्थयमेव मे यदरय. | ... | ... | ... | ... | १२६ |
| पद्माम्रग्रयिताश्रुविन्दु | ... | ... | ... | ... | १३० |
| पद्मानां मन्यसेऽस्माकम् | ... | वेणीसंहारे | ... | ... | ३३ |
| पटालमे पत्यो नमयति | ... | अमरुशतके | ... | ... | १३६ |
| रणअकुपिआण दोहवि | ... | गाथासप्तशत्याम् | ... | ... | १७३ |
| पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन | ... | कुमारसंभवे | ... | ... | ९० |
| परिप्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात् | ... | रत्नावल्याम् | ... | ... | २२ |

श्लोकः ।

वचिनाम अन्यनाम वा ।

पृष्ठम् ।

| | | | | | |
|-----------------------------|-----|-----------------------|-----|-----|-----------|
| परिपदियमृषीणाम् | ... | वीरचरिते | ... | ... | २४ |
| पशुपतिरपि तान्महानि | ... | कुमारसंभवे | ... | ... | १४१ |
| पादाद्भुतेन भूमिम् | ... | अमरुशतके | ... | ... | ८७ |
| पित्रोर्विधातुं शुभूपाम् | ... | नागानन्दे | ... | ... | ५६ |
| पुण्या ब्राह्मण जातिः | ... | वीरचरिते | ... | ... | ५९-९४ |
| पुरस्तन्वा गोत्रस्तत्त्व | ... | अमरुशतके | ... | ... | १३१ |
| पूर्यन्ता मल्लिनेन | ... | वेणीमंहारे | ... | ... | ३८ |
| पौलस्त्यरीनमुक्तवदु | ... | ... | ... | ... | १३८ |
| प्रणयकुपिता दृष्ट्वा देवीम् | ... | { श्रीवामपतिराजदेवस्य | ... | ... | १७३ |
| | | { श्रीमुखस्य | ... | ... | १७४ |
| प्रणयविमर्शं दृष्टिं वच | ... | रत्नावल्याम् | ... | ... | २६ |
| प्रथमजनिते बाला मन्यौ | ... | ... | ... | ... | ६७ |
| प्रयत्नपरिजोधितः | ... | वेणीसंहारे | ... | ... | २९ |
| प्रसीदत्यालोके त्रिमपि | ... | धनिकस्य | ... | ... | ६० |
| प्रसीदेति मूयाभिदमसति | ... | रत्नावल्याम् | ... | ... | २३ |
| प्रहरन्मपनीय | ... | माघे | ... | ... | १३५ |
| प्रहरयितौ मध्येराहः | ... | अमरुशतके | ... | ... | १७६ |
| प्राप्ताः श्रियः सखलकाम | ... | भर्तृहरिशतके | ... | ... | १२६ |
| प्राप्ता अधमपि वैधात् | ... | रत्नावल्याम् | ... | ... | २२ |
| प्राप्य मन्मथरसादति | ... | माघे | ... | ... | १२८ |
| प्रायश्चित्त चरित्यामि | ... | वीरचरिते | ... | ... | ५३-६५-११२ |
| प्रारब्धां तरुपुत्रेषु | ... | ... | ... | ... | १३८ |
| प्रारम्भे न पृच्छ | ... | भर्तृहरिशतके | ... | ... | ५४ |
| प्रारम्भेऽस्मिन्स्थागिन्ः | ... | रत्नावल्याम् | ... | ... | ६-१३ |
| बाले नाय दिमुञ्च | ... | अमरुशतके | ... | ... | ६९ |
| बाहोर्बलं न विदितम् | ... | हतुमन्नाटके | ... | ... | ५३ |
| ब्राह्मणातिक्रमत्यागः | ... | वीरचरिते | ... | ... | ५९-१३२ |
| भूत नूतनकुम्पाण्ड | ... | ... | ... | ... | ६५ |
| भम धम्मिअ वीरवदः | ... | गाथासप्तशत्याम् | ... | ... | १५६ |

| श्लोकः । | वर्तिनाम ग्रन्थनाम वा । | पृष्ठम् । |
|---------------------------------|-------------------------|-----------|
| मिश्रो मांसनिन्देयणम् ... | ... | १८२ |
| मुक्ता हि मया गिरयः ... | ... | १०७ |
| भूमौ क्षिप्या शरीरम् ... | वेणीसंहारे ... | ४२ |
| भूयः परिभवद्भान्ति ... | वेणीसंहारे ... | १६ |
| भूयो भूयः सविधनगरी ... | मालतीमाधवे ... | १६९ |
| भ्रूमङ्गे सहस्रोदता ... | रत्नावल्याम् ... | ८४ |
| मत्परातपरिपूत गोघ्रम् ... | भृच्छरुटिकायाम् ... | १६-५५ |
| मज्जस पट्टणा एसा ... | रत्नावल्याम् ... | ३७ |
| मत्ताना कुमुदरमेन ... | विश्रमोर्वश्याम् ... | १०४ |
| मप्तामि वीरवशात समरे ... | वेणीसंहारे ... | १४ |
| मधु द्विरेकः कुमुदैकपाने ... | कुमारसंभवे ... | १६८ |
| मध्याह्ने गमय त्यज श्रमजलम् ... | ... | ९० |
| मन्थायततार्णवाग्भः ... | वेणीसंहारे ... | १३ |
| मनोनातिरनाधीना ... | विश्रमोर्वश्याम् ... | १०२ |
| महु एहि वि शिवाग्भ ... | ... | ८० |
| मा गर्वमुदह कपोल तले ... | ... | ७५ |
| मातः कं हृदये निधाय ... | ... | ८६ |
| मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य ... | भर्तृहरिशतके ... | १४४ |
| मुनिरयमय वीरस्तावताः ... | वीरचरिते ... | १३२ |
| मुहज सामलि होई ... | ... | १२५ |
| मुहुर्गुहसितामिवालिनादैः ... | माघे ... | १७५ |
| मृगलम् परित्यज्य ... | उदात्तराघवे ... | १३८ |
| मृगशिञ्जुदशस्तस्याः ... | ... | ७९ |
| मेदस्तेदकृशोदरं लघु ... | शाकुन्तले ... | १०८ |
| मैनाकः किमय कण्ठि ... | हतुमन्नाटके ... | १३३ |
| यन्तत्यव्रतमङ्गभीरुमनसा ... | वेणीसंहारे ... | १७ |
| यदि परगुणा न क्षम्यन्ते ... | महेन्द्रस्य ... | १३१ |
| यद्ब्रह्मवादिभिस्पासित ... | वीरचरिते ... | ५२ |
| यद्यत्प्रयोगविषये ... | मालविकाग्निमित्रे ... | ५४ |
| यद्विस्मयस्तिमितम् ... | मालतीमाधवे ... | १६ |

श्लोकः ।

कविनाम ग्रन्थनाम वा ।

पृष्ठम् ।

| | | | | | |
|----------------------------|-----|------------------|-----|-----|---------|
| यातु यातु किमनेन | ... | ... | ... | ... | ६९ |
| यातो विक्रमबाहुरात्म | ... | रत्नावल्याम् | ... | ... | ४५ |
| यातोऽस्मि पद्मनयने | ... | रत्नावल्याम् | ... | ... | ८ |
| यान्त्या मुहुर्वलितकन्धर | ... | मालतीमाधवे | ... | ... | १५-१६९ |
| युष्मच्छासनलक्ष्मणाभसि. | ... | वेणीसंहारे | ... | ... | १३२ |
| ये चत्वारो दिनकर | ... | महानाटकात् | ... | ... | ५३ |
| येनायुष्य मुक्तानि | ... | छलितरामे | ... | ... | ३४ |
| ये बाहवो न युधि | ... | ... | ... | ... | १२६ |
| योगानन्दयशः शोभे | ... | वृहत्कथायाम् | ... | ... | ५१ |
| रथो नाहं न भूतम्. | ... | वेणीसंहारे | ... | ... | ४० |
| रण्डा चण्डा दिम्बिदा | ... | कर्पूरमञ्जर्याम् | ... | ... | १०२ |
| रतिक्रीडाधूते कथमपि | ... | धनिकस्य | ... | ... | ८५ |
| राशो विपद्गन्धुवियोगदुःखम् | ... | ... | ... | ... | १२६ |
| राज्यं निर्जितराजु | ... | रत्नावल्याम् | ... | ... | ५४-१२९ |
| राम राम नयनाभिराम | ... | वीरचरिते | ... | ... | ५२ |
| रामो मूर्ध्नि निधाय | ... | उदात्तराष्ट्रे | ... | ... | ९९ |
| रश्मीशयोधरोत्सङ्ग | ... | धनिकस्य | ... | ... | १८० |
| रघुनि तृणकुटीरे | ... | कमलायुधस्य | ... | ... | १३५ |
| रज्ज्वापमणवसाहणाहं | ... | ... | ... | ... | ६६ |
| राशालक्ष्म ललाटवटम् | ... | वेणीसंहारे | ... | ... | १०१-१८२ |
| राशालक्ष्म ललाटवटम् | ... | अमरज्ञानके | ... | ... | ६१ |
| राशालक्ष्म ललाटवटम् | ... | ... | ... | ... | १८१ |
| राशालक्ष्म ललाटवटम् | ... | ... | ... | ... | १५१ |
| राशालक्ष्म ललाटवटम् | ... | धनिकस्य | ... | ... | १५ |
| राशालक्ष्म ललाटवटम् | ... | धनिकस्य | ... | ... | १०८ |
| राशालक्ष्म ललाटवटम् | ... | मालतीमाधवे | ... | ... | १३३ |
| राशालक्ष्म ललाटवटम् | ... | माये... | ... | ... | १२० |
| राशालक्ष्म ललाटवटम् | ... | उदात्तराष्ट्रे | ... | ... | १३८ |
| राशालक्ष्म ललाटवटम् | ... | भर्तृहरिचरिते | ... | ... | १०८ |
| राशालक्ष्म ललाटवटम् | ... | ... | ... | ... | १३८ |

श्लोकः ।

कविनाम ग्रन्थनाम वा ।

पृष्ठम् ।

| | | | |
|-------------------------------------|-----------------------|-----|---------|
| विनिरपणगणत्कठोरदष्टा ... | ... | ... | १४२ |
| विनिश्चेतु शक्यः ... | उत्तररगमचरिते ... | ... | १३६-१७८ |
| विरम विरम बहे ... | रत्नावल्याम् ... | ... | १३९ |
| विरोधो निभ्रान्तः प्रसरति ... | उत्तरचरिते ... | ... | ३५ |
| विवृष्यती शैलमुतापि ... | कुमारसंभवे ... | ... | १५१ |
| विस्तृत मुन्दरि ... | मालविकाग्निमित्रे ... | ... | ९१ |
| विस्तारी स्तनभार एव ... | ... | ... | ६७ |
| वृद्धास्ते न विचारणीय ... | उत्तरचरिते ... | ... | ३४ |
| वृद्धोऽन्धः पतिरेव मञ्जर ... | भोजप्रबंधे ... | ... | १३० |
| वेद्य मेधदधदनी... ... | ... | ... | १२५ |
| व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना ... | नागानन्दे ... | ... | १६७ |
| व्याहृता प्रतियचो न ... | कुमारसंभवे ... | ... | ६७-१७२ |
| शठाऽन्यस्याः शङ्खीमणि ... | वमरुद्गतके ... | ... | ६१ |
| शस्त्रप्रयोगखुरलीनलहे ... | वीरचरिते ... | ... | ९२ |
| शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य... ... | ... | ... | १८४ |
| शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च ... | मालतीमाधवे ... | ... | ७९ |
| शिरामुपैः स्पन्दत एव ... | नागानन्दे ... | ... | ५५-६५ |
| शीताद्युर्मुखमुन्यले ... | रत्नावल्याम् ... | ... | २८ |
| शाकं स्त्रीवन्नयनसलिलैः ... | वेणीसंहारे ... | ... | ३८ |
| श्रीरेषा पाणिरप्पस्याः ... | रत्नावल्याम् ... | ... | २३ |
| श्रीहर्षो निपुणः कवि ... | रत्नावल्याम् ... | ... | १०० |
| श्रुताप्सरोगीतिरपि ... | कुमारसंभवे ... | ... | ८० |
| श्रुत्यायात बहिः कान्तम् ... | धनिकस्थ ... | ... | ८५ |
| श्राप्याशेषतनुं सुदर्शन करः ... | ... | ... | १४७ |
| सकलरिपुत्रयाशा ... | वेणीसंहारे ... | ... | ३९-१०५ |
| सखि म विजितो वीणा ... | ... | ... | ७६ |
| सच्च जाणद दष्ट सरि ... | गाथासप्तशत्याम्... .. | ... | ७९ |
| सच्छिन्नबन्धद्रुतपुष्पद्युन्यम् ... | रघुवंशे ... | ... | १३९ |
| सततमनिवृत्तमानसम् ... | ... | ... | १०८ |
| सद्यश्छिन्नशिरः ... | उदात्तराधवे ... | ... | १२९ |

श्लोकः ।

संज्ञिकानाम् भन्धनाम वा ।

पृष्ठम् ।

| | | | | |
|-----------------------------|-----|---------------------|-----|-------|
| सन्तः सधरितोदय ध्यमनिनः | ... | ... | ... | १०८ |
| मधूमङ्ग परविमलया | ... | धनिकस्य | ... | ८३ |
| समाख्या प्रीतिः | ... | ग्यावल्याम् | ... | २८ |
| संश्लेषधियामरे | ... | ... | ... | १३४ |
| समिजमनुविडम् | ... | शाकुन्तले | ... | ८३ |
| सध्यात्रे निगरालकान् | ... | धनिकस्य | ... | ८३ |
| सध्यात्रेः शरथैः प्रियेण | ... | ग्यावल्याम् | ... | ३५ |
| सहभूतगणं सबाध्याम् | ... | येष्वात्महाते | ... | १९ |
| सह्या निदधीन न क्रियाम् | ... | किराते | ... | १३३ |
| मालोष्ट विभं गुरु | ... | गाधामनश्याम् | ... | ९९ |
| मुधाबद्धमामैधरयन चरारेः | ... | दिङ्गलमन्त्रिकायाम् | ... | १३२ |
| मुधु रं नरनीतय द्दया. | ... | भनिकस्य | ... | १३८ |
| शननदभिदमुमुक्षुम् | ... | ... | ... | ३९ |
| शननालोक्त सन्ध्याः | ... | ... | ... | १३१ |
| शिमितविभ्रमिजान् | ... | मालतीमाधवे | ... | १९९ |
| श्रुता विभ्रि पुनः श्रममुता | ... | ... | ... | ९२ |
| रतुग्यरेण दारि | ... | ग्यावल्याम् | ... | १३९ |
| रतु पदमद्वयविभ्रि | ... | वीर्यसिद्धे | ... | १३-९८ |
| रमादरापुनिमित्तं गुरुम् | ... | धनिकस्य | ... | ८६ |
| रमनरादीपुष्पं | ... | अमरगणके | ... | ८८ |
| रमाति मुक्तु तमिजान् | ... | रत्नगामपति | ... | १९३ |
| रिमन्ते श्रमिजान् | ... | धनिकस्य | ... | १३५ |
| रसेद्वय पदमे ११ | ... | ... | ... | १८८ |
| रसगुणविभ्रि | ... | रत्नगणके | ... | ५३ |
| रसेद्वय विभ्रि | ... | ... | ... | ८९ |
| रस प्रदत्तं न विभ्रि | ... | रिमन्तेद्वय | ... | १९३ |
| रस विभ्रि विभ्रि | ... | रत्नगणके | ... | ८९ |
| रस विभ्रि विभ्रि | ... | रत्नगणके | ... | ८९ |
| रस विभ्रि विभ्रि | ... | ... | ... | ८९ |

| श्लोकः । | वर्णिताम् ग्रन्थनाम वा । | पृष्ठम् । |
|------------------------------|--------------------------|-----------|
| हस्तैरन्तर्निहितरचनै. ... | ... | १६७ |
| शायहारि हसितं वचनानाम्... .. | माघे ... | १३४ |
| हृन्मर्मभेदिपतदुत्पटक् ... | वीरचरिते ... | १३४ |
| हेरम्बदन्तमुमलोलिखितैरु ... | वीरचरिते ... | ९३ |
| होन्तपदिअस्स जाआ ... | गाथासप्तशत्याम्... .. | १७६ |
| हिया सर्वस्यासौ हरणि ... | रत्नावल्याम् ... | १९८ |



॥ श्रीः ॥

अथ

टीकाकारकृता

शिवाष्टपदी

भक्तयियमविलोचनवेशम्,
चन्द्रपिरणसमश्रुध्रमुदर्शनशैलनिनम्यनिवेशम् ॥ १० ॥
निटिलविलोचनलोचनतः कृतमस्मशरीररतीशम् ।
हिमनिधिसानुसमाधिसमन्वितचन्द्रधरं धरणीशम् ॥ १ ॥
यामनतीपतिपूर्वकलापरिकल्पितविशालललाटम् ।
हैमवतीपरिरम्भपवित्रिचित्रितवत्सरपाटम् ॥ २ ॥
व्यालवल्लयनमनीयकरम्बिनभूपितहस्तसरोजम् ।
शैलमुतावदनेन्दुविलोचनचञ्चलहृदयमनोजम् ॥ ३ ॥
निष्णुपदीपरिभोगपरिप्लुततुङ्गकपर्दकतन्पम् ।
गाननलापुत्रुकेन नगीकृतताण्डवरत्नमनल्पम् ॥ ४ ॥
भक्तजननमरणादिमहास्रमोचनरौशलवेशम् ।
त्रिभुवनमण्डलमण्डनपण्डितमन्दितपादविशेषम् ॥ ५ ॥
निष्णुमतीयनृतीयविवक्षणवल्गुभवादिनिदानम् ।
चातुक्थाचातुर्यनिवृत्तितगिरिजामानसमानम् ॥ ६ ॥
संहतसागरमथनविनिरसृतदारुणदारदशेषम् ।
मग्मथविशिष्टभुजङ्गविगाहतिमंहतिसमवित्तोषम् ॥ ७ ॥
गीतमिदं हरहर्षहरं किल मुग्धयु पुग्धिपुद्गलम् ।
अष्टपदीनिपुणाय पिनायी वितरतु निमग्नदासम् ॥ ८ ॥

म. म. सी. आई ई श्रीगङ्गाधरशास्त्रिणामन्तेवर्गी

पञ्चनदीय

मुदर्शनाचार्यनागरी,

काशी.

पञ्चनदीपपण्डितसुदर्शनाचार्यशास्त्रिनिर्मितमुद्रित-
पुस्तकानां सूची—

- १ शास्त्रदीपिकाप्रकाशः
 - २ व्युत्पत्तिवादादर्शः
 - ३ शक्तिवादादर्शः
 - ४ विशिष्टाद्वैताधिकरणमाला
 - ५ सावलोकदशरूपकप्रभा (ध्या)
 - ६ अद्वैतचन्द्रिका
 - ७ संस्कृतभाषा
 - ८ श्रीरङ्गदेशिकशतकम्
 - ९ श्रीसूतियतीन्द्रवन्दना
 - १० अनर्पणलघुरित्र (नाटक)
 - ११ भगवद्गीताभाषाभाष्य
 - १२ श्रीमात्स्वारचरितामृत
 - १३ अष्टादशरहस्यभाषा
 - १४ खीचर्या
 - १५ नीतिरत्नमाला
 - १६ श्रीवैष्णवप्रतनिर्णय
 - १७ भगवद्गीतासतसई
 - १८ नागरीदर्पण (हिंदीभाषाव्याख्यान)
 - १९ भाषाशब्दसंग्रह (हिंदीभाषा)
- शंखचक्रतिलकग्रन्थ चित्रपट

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

विद्याविलासप्रेस,

चौरांगभासंस्कृतसीरिज

बनारससिटी-